[२

(आचार्य विनोवा भावे के प्रवचनों का सार)

मूल लेखक—

श्री साने गुरुजी, एम० ए०

अनुवादक—

श्री भवानीप्रसाद तिवारी, एम० ए०

प्रकाशक—
सुषमा-साहित्य-मन्दिर,
१९२, १९५, जवाहरगंज, जबलपुर।

प्रथम संस्करण] [सन् १६४४

मुद्रक—
बालगोविन्द गुप्त,
शुभचिन्तक प्रेस,
जबलपुर।

विनोबाजी के बारे में—

वे संस्कृत के पण्डित हैं········वे स्वभाव से ही अध्ययनशील हैं·· ·····उनकी स्मरण-शक्ति आश्चर्यजनक है··········उनके हृदय में छुआ-छूत की गंध तक नहीं है·· ·······साम्प्रदायिक एकता में उनका उतना ही विश्वास है जितना कि मेरा।

—महात्मा गाँधी

विनोबा का प्रभाव आज नहीं, वर्षों के बाद लोग जानेंगे। ·· ·· ··· · एक निश्चय किया, एक तत्व ग्रहण किया तो उसका उसी क्षण से अमल करना—उनका प्रथम पंक्ति का गुण है। उनका दूसरा गुण निरन्तर विकास शीलता है। शायद ही हम में से कोई ऐसा हो जो कह सके कि मैं प्रतिक्षण विकास कर रहा हूँ। बापू को छोड़कर यदि और किसी में यह गुण मैंने देखा है तो विनोबा में।

·········'योगः कर्मसु कौशलम्' के अर्थ में विनोबा सच्चे योगी हैं। उनके विचार वाणी और आचार में जैसा एक राग है, वैसा एक राग बहुत कम लोगों में होगा, इसलिए जीवन एक मधुर संगीत-मय है।

—महादेवभाई देसाई

·· ······विनोबा जी की संयतवाणी और सधी हुई लेखनी से जो विचार प्रकट हुए हैं, उन पर उनके उत्कट तप और गहरे अनुभव की छाप जगह-जगह दिखाई देती है। ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग का विनोबाजी ने बड़ा सुन्दर समन्वय किया है।

—वियोगी हरि

दो बोल—

धूलिया जेल में पूज्य विनोवाजी ने श्रीमद्भगवद्गीता के अठारह अध्याय पर अठारह प्रवचन दिए। श्री साने गुरुजी ने एक दिन लगातार बैठकर यह सब लिख डाला और मित्रों से कहा—"जो इसमें सत्य है, सुन्दर है, वह पूज्य विनोवाजी का है, जो भूलें हैं वे मेरी हैं।"

और मैंने तो मूल मराठी से हिन्दी में अनुवाद मात्र किया है। अतएव इसमें मेरा कुछ नहीं है। यदि कुछ हो तो वह श्रीयुत पी० डी० कुलकर्णी जी की प्रेरणा और अपने ही बड़े भाई प० रामप्रसादजी तिवारी की चरण-रज से अनुरंजित मन प्रसाद है।

मेरे माथे श्री एम० डी० पुमलकर वकील, अमलनेर का आभार है, कि जिनकी अनुमति के बिना यह प्रकाशन सम्भव ही नहीं था।

'सुषमा-साहित्य-मन्दिर' ने इस युद्ध-काल में भी प्रचार की दृष्टि से कम मूल्य पर इस पुस्तिका को प्रकाशित कर अपना कर्त्तव्य पालन किया है।

पूज्य विनोवाजी ऐसे साधक है कि जीवन को उन्होंने आर-पार देखा है। ऐसा सहज जीवन-दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। विश्वास है, कि आपको आनन्द की वही अनुभूति होगी कि जो मुझे हुई है और उसे ही अपने श्रम की सार्थकता समझ लूँगा।

—विनीत

पहिला अध्याय

महाभारत और रामायण ये अपने राष्ट्रीय ग्रंथ हैं। ये दोनों महाकाव्य ही हैं ऐसा नहीं है किन्तु ये हमारे जीवन के साथ एक-रूप होगए हैं। राम, लक्ष्मण, सीता, कृष्ण, अर्जुन, द्रौपदी आदि हमारे जीवन में ही मिल गए हैं। संसार के और-और देशों में भी महाकाव्य हैं परन्तु उनके पात्र उन-उन देशों के जीवन के साथ एकरूप होगए हैं, ऐसा प्रतीत नहीं होता। रामायण और महाभारत, इन दोनो ग्रन्थों ने भारतीय जीवन का निर्माण किया हैं। वाल्मीकि की प्रतिभा, व्यास की प्रज्ञा और शुक्राचार्य के वैराग्य की संसार में समता नही है। रामायण में प्रतिभा का अपूर्व विलास है, काव्य-शक्ति की चरमता है परन्तु महाभारत में जैसे अखिल-विश्व-दर्शन हैं। व्यास की प्रज्ञा ने सम्पूर्ण संसार के अंतर्बाह्य दर्शन सुलभ कर दिये हैं। महाभारत मे महज्जनों में भी दोष, दुष्टों में भी गुण और सज्जनों में भी त्रुटियों का दिग्दर्शन है। यहाँ स्वयं धर्मराज 'नरो वा कुंजरो वा' करते हैं। कृष्ण का हाथ में शस्त्र धारण न करने का अभिमान चूर होता है। कर्ण में उदार शूरता है, गदा-हस्त दुर्योधन में तेजस्वी स्वाभिमान दिखलाई पड़ता है। ऐसे ये एक प्रकार के भव्य दर्शन हैं। जगत में निर्दोष केवल एक परमेश्वर है।

श्री व्यास ने अठारह पुराण लिखे, महाभारत लिखी; समुद्र के समान अगाध और अनन्त है उनका साहित्य। किन्तु सामान्य जन सम्पूर्णतः इसे कब देखेगा, कब पढ़ेगा? क्या उन्होने अपना संदेश—संक्षिप्त और सरल-किसी एक जगह कह नही रखा है? सैकड़ों कथाओं, व्याख्यानों, उपाख्यानों और उपदेशो में जो कहा गया है उसका सारांश, उसका नवनीत क्या

कहीं है ?—है; उनका सारा संदेश श्रीमद्भगवद् गीता में है। श्री व्यास के सर्व शिक्षा का सार ही श्री गीता है।

यदि कोई पूछे कि हिंदू-धर्म का छोटा बोध-गम्य ग्रन्थ कौन सा है तो हम गीता ही सामने कर देंगे। हिंदू-धर्म के सभी उदात्त विचारो और भावनाओ का यह सार-मय ज्ञान-कोश है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इसमे अमुक विचार नही आया। कितनी छोटी है गीता—सात सौ श्लोक मात्र; परन्तु वामन के एक डग में समाहित त्रिभुवन की तरह इन सात सौ श्लोकों में सारा तत्व ज्ञान आगया है। देखने मे चन्द्रमा कितना छोटा है परन्तु सारी पृथ्वी को शुभ्रता से आच्छादित कर देता है। इसी तरह छोटी सी गीता सम्पूर्ण मानवलोक में प्रकाश विखेरती है।

महाभारत के मध्य मे गीता का यह नंदादीप, यह दीप-स्तंभ स्थित है। महाभारत के अठारह पर्व हैं। गीता के अठारह अध्याय हैं—अठारह अक्षौहिणी सेना के बीच गीता ने जन्म जो लिया है। श्रीकृष्ण ने गीता कही, अर्जुन ने सुनी, व्यास ने गूँथी। इन तीनों की जैसे एकरूपता होगई है। व्यास को कृष्ण द्वैपायन भी कहते हैं—अर्जुन का भी नाम कृष्ण हैं—सबके सब जैसे कृष्णमय ही होगए।

अर्जुन ने अपने रथ की रासें श्रीकृष्ण के हाथो सौंप दी थीं परन्तु इसके पहिले ही अपने मनकी डोरियाँ भी वह श्रीकृष्ण को सौप चुका था। 'अर्जुन' इस शब्द का अर्थ क्या है ? जो ऋजु है वह अर्जुन। ऋजु याने सरल। अर्जुन का सरल भाव, शुद्ध भक्ति। जिसका मन सरल और निर्मल है वह हृदय के श्रीकृष्ण की शरण जाता है। कृष्ण का अर्थ है कर्षण करने वाला—खींचने वाला—इन्द्रियों को सन्मार्ग पर नियोजित करने वाला। जो ज्ञान-स्वरूप अतरात्मा है वही कृष्ण है और

जो कृष्ण है वही शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। इस शुद्ध विचार की वाणी कौन सुन सकता है? जो ऋजु है, शुद्ध वृत्ति का है वही तो।

अर्जुन महान् वीर था—उसे 'नर' की श्रेष्ठ पदवी प्राप्त थी। वह युद्ध के लिए तैयार हुआ तो श्रीकृष्ण से बोला—"मेरा रथ बढ़ाओ। देखूँ कि युद्ध के लिए कौन-कौन खड़े हैं?" भगवान् ने रथ बढ़ा दिया। खड़े होकर अर्जुन ने चारों ओर देखा तो उसे सारे स्वजन ही दिखे। विश्वासी सखा-सहोदर, गुरुजन दिखे। मारेंगे या मरेंगे यह निश्चय करके ही वे वहाँ एकत्रित हुए थे। वह मामूली युद्ध न था, इस पार या उस पार का निर्णय था, आन-बान की लड़ाई थी। यह दृश्य देख अर्जुन दुखी हुआ। उसे लगा युद्ध अत्यन्त भयंकर है। आँखों में आँसू झलक आए और उस धनुर्धारी का धनुष ही हाथ से छूट गया। उसने कृष्ण से कहा—'हे देव, इन सबको मारकर राज्य मिला तो किस काम का! रुधिर से सना सुख-भोग पाप है। इन स्वजनों का रक्त कैसे बहाऊँ? गुरुजनों का वध कैसे करूँ? ये असंख्य वीर-पुरुष मरेंगे—लाखों माँ बहिनें विधवा होंगी—व्यभिचार फैलेगा, कुल-धर्म का लोप हो जायगा—ओह! नहीं यह युद्ध नहीं होगा। इससे तो सन्यास धर्म ही अच्छा है, वही श्रेष्ठ है। परन्तु सचमुच कुछ समझ में नहीं आता क्या करूँ! तुम्ही गुरु हो, तुम्ही मार्ग दिखाओ।'

युद्ध अत्यंत भयंकर वस्तु है इसमें सन्देह नहीं। अर्जुन ने युद्ध के कारण होने वाले जो अनर्थ कहे उनका अनुभव हमने गत महायुद्ध में किया। इस महायुद्ध मे और शतगुना करेंगे। परन्तु अर्जुन मे जो वैराग्य उत्पन्न हुआ था; क्या वह सच्चा था? क्या उसका यह विचार जीवन में उतर चुका था? कल तक तो वह युद्ध करता ही था—शत्रुओं के मुंड भुट्टे की तरह उड़ाता

था। अभी-अभी कहाँ से वैराग्य आगया। अनुभव से छनकर यह वैराग्य आया नहीं था। क्षात्र-धर्म को तिलांजलि देकर अर्जुन कहीं हिमालय जाता भी तो वहीं आखेट करने लगता। वहाँ भी जन-समूहों को जीतकर नया राज्य निर्मित करता। हिमालय पर नई-नई विलास नगरियाँ बसाता। इस तरह सन्यास-धर्म की हँसी होती और अर्जुन की भी बदनामी ही होती। भगवान् श्रीकृष्ण यह सब जानते थे अतएव अर्जुन के सारे कथन को उन्होंने प्रज्ञावाद कहा है। जब हम सत्य प्रतिपादन के लिए नहीं—अपने मन की बात का समर्थन के लिए बुद्धि लड़ाते फिरते हैं वही प्रज्ञावाद है। नाना प्रकार से मंडन करने पर भी उसमें सत्यता नहीं होती और जैसे अपना मन अपने ही मन को कुतरता है।

एक न्यायाधीश है। उसने अभी तक अनेकों को सहज ही फाँसी की सज़ा दे दी हो। परन्तु एक दिन उस पर अपने ही खूनी पुत्र को फाँसी की सज़ा देने का मौका आ पड़े तो लगे कहने कि यह फाँसी की सज़ा बहुत बुरी है। अपराधी ने उस समय भावनावश जो किया इसलिए हम शांत-स्थिति में क्या उसे फाँसी की सज़ा दे देंगे। यह ठीक नहीं है। इस न्यायाधीश के सामने पुत्र है—अपना ही पुत्र—उसके मोह से और आसक्ति से उसे यह वैराग्य उत्पन्न हुआ है। यह क्षणिक विचार मोह और आसक्ति को छुपाने के लिए है।

अर्जुन के संबन्ध में भी ठीक ऐसा ही है। स्वजन और परिजन, इनमें वह भेद करता है। आज तक कितने ही अपरिजन उसने मार डाले। परन्तु स्वजनों को देखकर ही वह युद्ध को बुरा कहने लगा। यह आसक्ति है—मोह है। कर्तव्य करते समय, ये स्वजन, ये परिजन ऐसा भेद न करना चाहिए।

अर्जुन को संन्यास धर्म श्रेष्ठ प्रतीत होता है पर उसे निभना चाहिए न? अनासक्त रहकर हमें अपनी प्रवृत्ति के अनुसार ही समाज सेवा करना चाहिए। पानी की अपेक्षा दूध अधिक मँहगा है, पर यदि हम मछली से कहे कि हे मछली, तुझे हम दूध में रखते हैं, पानी से दूध अधिक मूल्यवान है तो मछली क्या कहेगी? मछली तो पानी में ही जीवित रहेगी, दूध में मर जायगी। श्री मोरोपंत ने कहा है:—

अरे, जल ही प्राण है जिस दीन का
*दूध मे जीवित रहेगी मीन क्या?**

अतएव यदि दूसरे का अर्थ श्रेष्ठ प्रतीत हो तो हमसे उसका निर्वाह तो होना चाहिए? सूर्य का प्रकाश उत्तम है। किन्तु यदि हम उसके निकट जावें तो जल जावेंगे। धरती पर रहकर ही उसका प्रकाश लें और लाभ उठावें। आकाश में रहने की अपेक्षा पृथ्वी पर रहना हीन भी हो तो भी हमारा उसी में कल्याण है—उसी में विकास है।

अर्जुन संन्यासी होना चाहता है। इसमें उसका अपयश होगा यह श्रीकृष्ण जानते हैं। इससे उसके सारे बुद्धिवाद को वे प्रज्ञावाद कहते हैं। अर्जुन को ठोक-पीट कर संन्यासी बनाने का क्या अर्थ? केवल उसके सिर पर हाथ फेर कर ही संन्यासी कर देना ठीक नहीं है। उसे तो आंतरिक द्वंद्व से होकर ध्येय की ओर जाने देना चाहिए।

सारांश अर्जुन मोहवश, आसक्तिवश स्वधर्म को टालना चाहता है। मोह और आसक्ति को जीतना यही मूल बात है। अनासक्त होकर अपने धर्म-कर्म का आचरण यही सबका कर्तव्य है। मोह जीतो और अनासक्त बनो। इस तरह स्वधर्म

---

* "यज्जीवन जीवन तो दुग्धीं वाचेल काय हो मीन?"

कर्म करो। गीता यह संदेश देने के लिए आई है। अठाहरवें अध्याय के अन्त मे श्रीकृष्ण यो पूछते हैं "कच्चिदज्ञान संमोहः प्रणष्टस्ते धनंजय" अर्जुन, मोह दूर हुआ? अर्जुन उत्तर देता है 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' मेरा मोह दूर हुआ, भान आया, अपने धर्म पर आचरण करने की जागृति हुई है।

कर्त्तव्य कर्म करते हुए, मोह जो बाधक होता है—आसक्ति जो आड़े आती है उन्हें कैसे दूर करें, उनसे कैसे युद्ध करें उसका उपाय बताने के लिए गीता-शास्त्र है। पहिले अध्याय मे उपदेश का प्रारम्भ नहीं है। परन्तु अर्जुन किस पृष्ठ-भूमि पर खड़ा है इसे समझने के लिए पहिला अध्याय आवश्यक है। गीता-शास्त्र की उत्पत्ति क्यो हुई? इसका प्रतिपादन करने के लिए पहिला अध्याय है।

गीता केवल अर्जुन के लिए नहीं है, केवल क्षत्रियो के लिए नही है, हमारे तुम्हारे सबके लिए है; सभी संसारियों के लिए है, हम सभी एक प्रकार से क्षत्री ही हैं। संत तुकाराम ने कहा है:—

युद्ध में, संग्राम में है बीतना प्रतिदिन हमारा
*बाह्य जग की विकृतियों से जूझता है मन हमारा**

प्रत्येक मनुष्य, अपने कर्त्तव्य कर्म के 'धर्म क्षेत्र और कुरु-क्षेत्र' पर खड़ा है। मोह और आसक्ति हैं उसके मार्ग के बाधक। उनसे जूझना पड़ता है। मोह को कैसे जीतें, आसक्ति कैसे दूर करें यह हमे गीता बताती है। अतएव यह शास्त्र सभी के लिए आवश्यक है। ऊँचे पर्वत पर पानी बरसता है। अर्जुन सरीखे महापुरुष के मस्तिष्क पर श्रीकृष्ण ने सदुपदेश के अमृत

---

* "रात्रंदिन आम्हा युद्धाचा प्रसग
अतर्बाह्य जग आणि मन।"

की वर्षा की है। श्री व्यास ने उसे प्रवाह में बाँधकर हमारे लिए सुगम किया है। महान् है उनका उपकार। अर्जुन के निमित्त बनाकर यहाँ सभी को उपदेश दिया है। हम सब ऋजु होकर, सरल और निर्मल होकर, ज्ञान-स्वरूप कृष्ण के पास बैठें और मोह जीतकर, अनासक्त होकर, स्वधर्म कर्म आचरण करते हुए समाज सेवा कैसे करें और जीवन कृतार्थ कैसे करें यह सीखें।

दूसरा अध्याय

दूसरे अध्याय के आरंभ मे जीवन के महान सिद्धान्त कहे है। कौन से वे महान सिद्धान्त ?

१—आत्मा सर्वत्र व्याप्त है।

२—देह नश्वर है।

३—स्वधर्म अनिवार्य है।

इन तीन सिद्धान्तो में जैसे जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र ही आगया है। आत्मा अनंत है, एक ही तत्व मानो सर्व विद्यमान है, हमे पग-पग पर उसका थोड़ा बहुत अनुभव होता है। जैसा सुख-दुःख हमे होता है वैसा ही दूसरे को होता है। हम सब समान है, एक ही से हैं एक ही चेतना हम सब में खेल रही है। सब जगह वर्त्तमान आत्म-तत्व देख पाना ही मोक्ष है; परन्तु हम इस आत्म-तत्व के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। जैस एक क़ीमती साड़ी हो और एक नादान बालक कैंची से उसके टुकड़े करे, ऐसा ही हम करते हैं। सर्वत्र भरित आत्म-तत्व को हम छिन्न-भिन्न करते हैं। सुन्दर बिने हुए वस्त्र की हम धज्जियाँ करते हैं और फिर रोते बैठते हैं कि शरीर में धारण करने योग्य

कुछ हमारे पास बचा ही नहीं है। संसार में जो दुःख है, अन्याय है, स्पर्धा है, मारपीट है, युद्ध है। इन सबका कारण क्या है? इन सब का एक ही कारण है और वह यह कि हम अनेक कृत्रिम भेद निर्माण कर लेते हैं। सर्वत्र भरित-पूरित आत्म-तत्व की ओर हम देखते भी नही। नदी बह रही है। यदि उसे जगह जगह बाँधकर हम डबरे बना लें तो फलस्वरूप हम शीतज्वर के शिकार बनेंगे। मच्छर पैदा होंगे और हम मरेंगे। संसार मे आज हम मर ही तो रहे हैं। कारण हमने डबरे निर्माण किए हैं—ये कि—ये गोरे, ये काले, ये हिंदू, ये मुसलमान, ये ब्राह्मण, ये ब्राह्मणेतर; ये स्पृश्य ये अस्पृश्य; ये देशस्थ, ये कोकणस्थ; ये महाराष्ट्र, ये गुजराती–सब डबरे—अपने-अपने डबरे मे बैठकर सभी मेंडको की तरह अहंकार से टर-टराते हैं। सभी मरण का अभिषेक कर रहे हैं।

जिस हिन्दुस्थान ने गीता दी, उपनिषदें दी, उनमे आज भेद-प्रभेद बिलबिला रहे हैं। जगह-जगह अपनी जाति के क्षुद्र डबरे उभार कर हम हीन पतितों की तरह लड़ते-झगड़ते हैं।

हम ये डबरे क्यों बनाते हैं। सर्वत्र भरितपूरित आत्म-तत्व हम क्यो नही देखते हैं? कारण हम नश्वर देह को महत्व देते हैं। गीता कहती है 'अरे शरीर रहने वाला नहीं है—ये मटके फूटेंगे ही, ये वस्त्र फटेंगे ही, फिर इस शरीर को महत्व क्यो देते हो? इसके भीतर स्थित आत्मा देखो। परन्तु हम आत्मा की ओर देखते ही नहीं है। हम कहने लगते हैं—अमुक नाम के, अमुक रंग के वे हमारे अपने हैं। बाहिरी रूप-रंग को महत्व देकर हम डबरे बनाते हैं। अरे कल मरने के बाद एक ही मिट्टी मे सब मिल जाने वाले हैं। जिस शरीर में तुम्हे इतनी गरिमा दिखती है वह भंगुर है:—

पहिले जो मृदु शैया पर सुख से सोता है
उसे अन्त में लकड़ों पर जलना होता है।*

परन्तु विचार कौन करता है श्री संत तुकाराम ने कहा है—

'देख एक का दाह दूसरा ज्ञान नही लेता है।' †

रवीन्द्रनाथ ने गीतांजलि में एक जगह लिखा है—इस कारा में एक क़ैदी है—उसकी ओर किसी का भी ध्यान नहीं जाता। केवल कारा को दिवाल की ही चिन्ता की जाती है। हम इस देह में स्थित आत्म-तत्व को नहीं देखते। हमारी आत्मा पंख फड़-फड़ाकर सारे कृत्रिम बंधनों और खोटे भेद-भावों को तोड़कर अखिल विश्व के अंतर में उड़ जाना चाहती है। परन्तु उसकी भूख की ओर हमारा ध्यान नहीं है। हम देह की ही पूजा करते बैठे हैं—अपनी देह की और अपने जाति के लोगों ने शरीरों की। जापान को लगता है केवल जापानी ही सुख से रहे, जर्मनों को लगता है उनकी ही सत्ता हो, अंग्रेजों को लगता है कि उनका ही साम्राज्य फले-फूले; परन्तु सारे मानव सुखी व स्वतंत्र रहें यह कौन चाहता है? जिसे देखो वही अपना रंग, अपना देश, अपनी जान देखता है। हम बाह्य-रूप को ही महत्व देते हैं—अंतर में सीपियाँ समेटते हैं—मोती फेंक देते हैं। गीता कहती है—'अरे सर्वत्र भरित परमात्मा के दर्शन करो—देह को महत्व देकर अखंड आत्मा के खंड-खंड मत करो॥'

हिन्दुस्थान में जिस तरह भेद-प्रभेदों की बिल-बिलाहट है उसी तरह मरण का अपरम्पार डर भी है। अन्य देशों ने

---

* "आधी पलगी झोंपती, शेवटीं गोवऱ्यांची संगती"
† 'एकमेकांची दहने, पाहती न होती शाहणे'

मरण के साथ जैसे खेल किया है—स्वदेश की वेदी पर लाखो प्राण चढ़ रहे हैं और सारी भय-भीति हमारे यहाँ आ बसी है—'लाठी पड़ जायगी, गोली लग जायगी, सज़ा हो जायगी'—इस तरह एक दूसरे पर भय प्रकट करते हैं। श्री ज्ञानेश्वर ने दुःख पूर्वक कहा है:—

मरण शब्द का उच्चारण भी सहन नही होता है
*और मरा कोई तो प्राणी फूट-फूट रोता है।**

'मरण' शब्द का उच्चारण तो हम करने नही देते और यदि कोई मर गया तो ऐसा रोते हैं कि जैसे संसार मे कोई कही बचा ही न हो। चर्ममय शरीर को दुलराने वाले, सदैव झगड़ने वाले अधःपतितो के भाग्य मे सदियो की ग़ुलामी न रहेगी तो क्या रहेगी?

हमें भेद के डबरे मिटाना चाहिए। देह की क्षुद्रता पहिचानना चाहिये। देह साध्य नहीं है साधन है यही ध्यान रखना चाहिए। यह देह स्वधर्माचरण के लिए है। स्वधर्म याने अपना कर्त्तव्य-कर्म। हमे जन्म से ही स्वधर्म प्राप्त होता है। माता पिता जैसे खोजना नहीं पड़ता वैसे स्वधर्म भी ढूँढ़ना नहीं पड़ता। हम किसी एक प्रवाह मे जन्म लेते हैं। हमारे सामने एक विशेष परिस्थिति होती है, उस परिस्थिति के अनुसार हमे स्वधर्म भी प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ–हम परतंत्र हिन्दुस्थान मे पैदा हुए हैं अतएव प्रत्येक का स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन करना यही धर्म है।

परन्तु स्वतन्त्रता के लिए हलचल करने का जो स्वधर्म है, कर्तव्य-कर्म है; वह सबसे एक सा ही बनेगा ऐसा नहीं है, प्रत्येक की वृत्ति भिन्न है—कोई कहेगा मै हरिजन सेवा करूँगा; कोई

---

* "अगा मर हा बोल न साहती, आगि मेलिया तरी रडती"

कहेगा मै खादी का काम हाथ मे लूँगा; कोई कहेगा मै राष्ट्र-भाषा का प्रचार करूँगा; कोइ कहेगा चर्मालय निर्माण करूँगा; कोई कहेगा मैं शास्त्रीय गोरक्षण का कार्य करूँगा; कोई साक्षरता प्रचारक होगा; तो कोई मधुसंवर्धन विद्या-विशारद बनेगा; कोई कहेगा मै किसान संगठन करूँगा; कोई कहेगा मै मजदूरों मे जाता हूँ; कोइ कहेगा मै विद्रोह करता हूँ; कोइ कहेगा मै फाँसी पर लटकूँगा; कोइ कहेगा मै जेल जाऊँगा। सभी यथाशक्ति अपनी वृत्ति के अनुसार स्वतंत्रता के कार्य में मदद करेंगे।

इसी को स्वधर्म कहते हैं। स्वधर्म का अर्थ हिन्दू धर्म, ईसाई-धर्म ऐसा नही है। स्वधर्म याने हमारा वर्ण-धर्म। वर्ण याने रंग। संसार मे हम आए हैं तो कौनसा रंग लेकर? हमारे मन और बुद्धि का कौनसा रंग है? हमारा झुकाव किस ओर है? उसे देखकर उसके अनुरूप ही सेवा-कर्म हम हाथ में लें। उसी के लिए जीवित रहे और उसी के लिए मरें।

'स्वधर्मे निधनं श्रेय. परधर्मो भयावह:'

उक्त चरण का ऐसा ही अर्थ है। प्राचीनकाल में ऐसा था कि जो पिता का वर्ण वही पुत्र का, इसलिए कि शैशव में बालक जो घर मे देखता था, जिस वातावरण से प्रभावित होता था, उसे ही ग्रहण करता था। परन्तु इस जमाने से हम बहुत आगे आचुके हैं। शिक्षण पद्धतियो के अनेक प्रकार होगए है। एक ही माता-पिता के भिन्न गुण धर्म की सन्तानें होती हैं। एक ही सा सुझाव सर्वनिष्ठ नहीं होता। कोई चित्रकार होता है—किसी को फूल-पत्ती, खेती-किसानी का शौक़ होता है। इसलिए वृत्ति के अनुरूप ही स्वधर्म चुनो और उसी के आचरण करने में यह शरीर झोक दो। सर्वत्र भरित आत्मस्वरूप की जागृति में स्वधर्माचरण करने के लिए यह देह प्राप्त हुई है। इस

देह के साधन द्वारा स्वधर्माचरण करते हुए सर्वत्र स्थित परमात्मा की कर्ममय पूजा ही हमें करनी है।

आत्मा अखंड है, देह नश्वर है, स्वधर्म अनिवार्य है। ये तीन सिद्धान्त गीता ने प्रतिपादित किए हैं; परन्तु केवल शास्त्र पर्याप्त नहीं है। शास्त्र को जीवन में उतारने के लिए कत्रि बनो। स्वधर्म करो यह तो सभी धर्म कहते हैं। पर गीता कहती है— 'स्वधर्म का आचरण तो करो ही पर फल की इच्छा छोड़कर निष्काम वृत्ति से करो' श्रीकृष्ण कहते हैं—

"एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धियोंगे त्विमां शृणु"

तुझसे सांख्य-शास्त्र कह दिया। अब योग सुनो—और योग क्या है?

'योगः कर्मसु कौशलम्'

कर्म करने की कला यही योग है। अपने हाथों कर्म की उत्कृष्टता कब प्राप्त होगी? तब, जब कर्म मे अबाध लगन हो और फल की चिंता न करते हुए साधन मे ही हमारी तन्मयता हो। ऐसा कर्म करने मे एक प्रकार का परम आनन्द निवास करता है, कृतार्थता होती है और निराश कभी पास नही फटकती।

ऐसा निष्काम कर्म करने वाला व्यक्ति कैसा हो? स्वधर्माचरण की निष्काम सेवा द्वारा स्व-शरीर से समाज-रूपी परमेश्वर की पूजा करने वाला अनासक्त योगी हो तो कितना अच्छा हो।

जीवन का शास्त्र प्रतिपादित करके, निष्काम बुद्धिपूर्वक कर्म करने की कला का दिग्दर्शन करा के, दूसरे अध्याय के अन्त मे भगवान् ने ऐसे स्थित प्रज्ञ की मूर्ति खड़ी कर दी है, जिसके जीवन में उक्त शास्त्र और उक्त कला स्वयं प्रकट है। गीता-शास्त्र मानो दूसरे ही अध्याय में समाप्त होगया। आगामी

अध्यायों में इसी का विस्तार है। इसीलिए दूसरे अध्याय को कोई कोई एकाध्यायी गीता कहते है। अन्य अध्यायो में जो इन विचारों का विस्तार है। उसे धीरे-धीरे देखते चलें।

तीसरा अध्याय

गीता कहती है अपने धर्म का आचरण निष्काम बुद्धि से करो। अपनी प्रवृत्ति पहचानो। अपने गुण धर्म समझो। तदनुरूप सेवा हाथ मे लो। समाज सेवा का कोई भी कर्म हीन नहीं है। सारे कर्म पवित्र हैं। समाज सेवा का प्रत्येक प्रकार समान ही मोक्षदायी है। वेद देने वाला ऋषि हो चाहे रास्ता साफ करने वाला झाड़ू बरदार हो; शाला में पढ़ाने वाला शिक्षक हो चाहे दूकान रखने वाला व्यापारी हो, सभी मोक्ष के अधिकारी हैं। कोई किसी पर घृणा न करे। अपना ही कर्म श्रेष्ठ है ऐसा न कहे। उपनिषद् में एक कहानी है। एक बार देव आपस में झगड़ने लगे। वायु बोला मै श्रेष्ठ हूँ, अग्नि कहे मै हूँ, जल कहे मैं हूँ और इंद्र कहे मैं ही श्रेष्ठ हूँ। जब उनका इस तरह विवाद चल रहा था तब अचानक उनके बीच मे एक देवी आकर खड़ी होगई। वह ज्ञान की देवी उमा थी। उसका दिव्य रूप झलमला रहा था। इन्द्र वायु से बोला कि जाओ उस देवी से पूँछताँछ करो। वायु देवी के पास आया और बोला—आप कौन हैं? देवी ने पूछा तुम कौन हो? वायु गर्व से बोला—तुम्हें मालूम नहीं अरे मैं वायु हूँ, मैं पर्वतों को उड़ाता हूँ, वृक्षों को उखाड़ता हूँ, समुद्र को हिलाता हूँ, मेरी शक्ति अपार है। देवी बोली—यहाँ एक तिनका है जरा इसे तो उड़ाओ। वायु तिनका उड़ाने लगा पर उड़ाते न बना। उसका दर्प चूर्ण हुआ और वह

हम अपने गुण धर्म के अनुसार सेवा करते जायें। सारे ही कर्म मोक्षदायी हैं। प्रभु को प्रिय हैं। बस कर्म करो और फल की इच्छा छोड़कर करो। फल की इच्छा छोड़कर कर्म करने से ये नहीं कि फल न मिले। बल्कि उलटा है। जो मन में सदा फल की इच्छा रखता है उससे कई गुना फल निष्काम कर्मयोगी को मिलता है। परिणाम की चिंता करने बैठने का उसके पास समय ही नहीं है, वह समय भी वह कर्म में ही लगाता है। जो किसान दिन-रात खेती के काम में ही लग गया है उसकी फसल औरों से अधिक अच्छी आये बिना नहीं रहेगी। निष्काम कर्म करने वाले की जीवन यात्रा भी सुलभ होगी इसमें संदेह नहीं, परन्तु इसके सिवाय भी उसे अनेक महत्व के फल भी प्राप्त होते हैं।

गंगा की धारा में स्नान करने के लिए एक दंभी विलासी और एक भक्त जावे तो शरीर शुद्ध तो दोनों के होंगे ही, परन्तु

जो भक्ति भाव से स्नान करने गया है उसे शरीर-शुद्धि के साथ और फल भी मिलते हैं। विज्ञानवादी कहेगा गंगा तो आक्सीजन और हाइड्रोजन का मिश्रण है। इसके सिवाय वह और है ही क्या ? उसे केवल शरीर-शुद्धि का ही फल मिलेगा, परन्तु यह फल तो एक भैंस को भी मिलेगा। पर जो भक्ति-भाव से गया है उसके लिये गंगा वह है जिसने विष्णु के चरण कमलों से जन्म लिया है, जो शकर के जटा-जूट से निकली है; जिसके तीर पर अनेक नृप राज्य त्याग कर मोक्ष की साधना कर सके, जिसके किनारे योगी योग में रमे, ज्ञानी ज्ञान में रँगे, भक्त भक्ति में डूबे; मन में ऐसी ऊँची भावना उठाकर गंगा की धारा में डूबा उसे शरीर-शुद्धि के साथ ही साथ चित्त-शुद्धि का फल भी प्राप्त होता है। शरीर का मैल भी धुल जाता है और मन का मैल भी धुल जाता है।

निष्काम कर्म करने वाले की जीवन-यात्रा सुगम होती है। उसे चित्त-शुद्धि रूपी फल मिलता है। चित्त निर्मल हुआ कि कर्म से ही ज्ञान भी प्राप्त होता है। महाभारत में तुलाधार वैश्य की कहानी है। उसके पास जाजलि नामक ब्राह्मण ज्ञान-प्राप्ति के लिए आया। तुलाधार बोला—मेरे पास ज्ञान कहाँ से आया ? यदि हो भी तो यही एक ज्ञान है जो मुझे तराजू की डंडी ने दिया है। जैसी ये तराजू की डंडी सीधी है वैसा ही सीधा और सरल बनूँ, यही सीखा हूँ, शत्रु हो, मित्र हो, स्वजन हो या अन्य हो उनके प्रति तराजू की डडी के समान ही मेरा मन सरल है। तुलाधार को अपने व्यापार के स्वधर्म से ही चित्त शुद्धि हुई और मोक्ष का ज्ञान मिला। सेना नाई, गोरा कुम्हार, कबीर आदि सभी ने स्वधर्म द्वारा चित्त-शुद्धि किया और ज्ञान प्राप्त किया। सेना नाई हजामत बनाया करता था। सर्व-साधारण के सिरों का मैल निकालता था। ऐसा करते-करते

उसके मन मे विचार उठा—मैं सभी के मस्तको को निर्मल करता हूँ परन्तु क्या मैंने अपने मस्तिष्क को निर्मल कर लिया है? गोरा कुम्हार मटकियाँ बनाता था। मटकियाँ कच्ची हैं कि पक्की यह देखते-देखते उसे विचार आया कि उसने अपने जीवन की मटकी पक्की कर ली है कि नही। साँवता माली बगीचे का काम करता था। अनुपयोगी घास फूस अलग करते-करते उसे लगा कि अपने हृदय का वासना-रूपी घास-फूस निकाल पाया हूँ कि नहीं? कबीर मोमिन था। कपड़े बुनता था। बुनते-बुनते उसके हृदय में भाव उठा कि अपना जीवन-रूपी वस्त्र मैंने ठीक बुना है या नहीं। क्या अपना निर्मल जीवन-वस्त्र मे प्रभु को भेंट कर सकूँगा?

इसी तरह विभिन्न कर्मों द्वारा ही चित्त शुद्धि होती है और ज्ञान भी मिलता है। कर्मयोगी अपने कर्म से इतने-कितने ही फल प्राप्त करता है। मन मे फल की इच्छा रखकर काम करने का परिणाम क्षुद्र होगा, परन्तु जो निष्काम-वृत्ति से कर्म में रँग गया है वह कर्म योगी फल तो पाता ही है चित्त की शुद्धि भी प्राप्त करता है। ज्ञान का अधिकारी भी होता है, जैसे मुक्त ही हो जाता है।

अनवरत स्वधर्माचरण करते रहने से समाज का दंभ भी दूर हो जाता है। यदि वासनाओं को जीत चुकने वाला कोई ज्ञानी कहे कि अब उसे कर्म का क्या प्रयोजन? अब प्राप्त करने के लिये रह हो क्या गया है? परन्तु यदि वह चुप बैठ जायगा तो दूसरे भी ऐसा करना चाहेगे परन्तु जितनी शांति और संतोष का अनुभव ज्ञानी करेगा अन्य न कर सकेंगे। केवल अन्ध-अनुकरण करेंगे। समाज मे इससे दंभ फैलेगा। इसीलिये कर्मयोगी सतत निष्काम सेवा करता ही रहता है।

श्रीकृष्ण ने यह कर्मयोग प्रतिपादित किया है। कर्म की महिमा उन्हीं से सीखना चाहिये। कोई भी सेवा-कर्म तुच्छ नहीं है—यह उन्होंने अपने जीवन में दिखला दिया है। उन्होंने गायें चराईं, राजसूय-यज्ञ में जूठन उठाया और लीपा। जब शिशुपाल बोला कि उस श्रीकृष्ण की अग्र-पूजा क्यों करते हो? वह तो गाय चराने वाला गँवार है। तब श्रीकृष्ण ने कहा कि ठीक है, मैं गाय चराने वाला ही हूँ और गोपाल कृष्ण कहलवाने ही में मुझे आनन्द आता है। भगवान ने अर्जुन के घोड़े हाँके हैं। महाभारत के युद्ध मे, सन्ध्या होते ही क्षत्रिय योद्धा सन्ध्या-कर्म करने चले जाते थे पर भगवान उस समय क्या करते थे? वे रथ के घोड़ो को पानी दिखाते थे। उनके शरीर में लगी हुई तीर की अनी निकालते थे और खुरैरा करते थे। अपने पीताम्बर का तोबरा बनाकर उन्हें दाना खिलाते थे। श्री मोरोपंत ने इसका सुन्दर वर्णन किया है:—

" औषध सुचणक कल्पी पीतपट पसाहि तोबरा माप।
श्रितसाहित्य कराया न बरा मांदार तो बरा मा-प ॥ "

यह लक्ष्मीपति भक्तों की कितनी चिन्ता करता है। कल्प-वृक्ष की अपेक्षा यह कितना श्रेष्ठ है। अपने पीताम्बर में घोड़ों को दाना देता है।

भगवान ने कर्म की ऐसी महिमा कही है और सन्तों ने ऐसे ही भगवान को उपस्थित किया है। कर्म की महिमा कह चुकने के बाद भगवान कहते हैं—

"हे अर्जुन, स्वधर्म करने से मोक्ष तो हाथ आयेगा परन्तु काम, क्रोध, लोभ तथा अन्य वासनाओं के कारण स्वधर्माचरण उत्तम नहीं होगा; इसलिये काम, क्रोध को वश में करो, संयमी बनो और निष्काम कर्मयोग के साधन से जीवन कृतार्थ करो।"

चौथा अध्याय

संसार सर्वत्र ओत-प्रोत फला-फूला है। उसे 'छोड़ूँ-छोड़ूँ' सोचकर भी छोड़ते नहीं बनता। प्राणिमात्र के पीछे कर्म तो लगा ही है। 'सोना' यह भी क्रियापद है; 'बैठना' यह भी क्रिया-पद ही है। हम कहने लगते हैं बैठे-बैठे पैर दुखने लगे। ऐसी परिस्थिति में कर्म कैसे दूर किए जा सकते हैं।

कर्मों की अवहेलना से जीवन-यात्रा शक्य नहीं। चित्त-शुद्धि लभ्य नहीं। ज्ञान का उदय सम्भव नहीं। समाज में दम्भ फैलेगा। इसलिए सतत् कर्म करना चाहिए। कर्मों से ऊबो मत। अपने मन का काम चुन लो। अपनी गुणवृत्ति के अनुरूप कोई भी समाज सेवा हाथ मे लो और उसमें रम जाओ।

केवल ऊपरी कर्म उद्धारक नहीं है—बाह्य कर्म को महत्व काहे से प्राप्त होता है? साधारण बाहिरी कर्म से मोक्ष की अमृत-धारा कैसे प्राप्त होती है, यही चौथे अध्याय में कहा है।

इस अध्याय मे तीन शब्द हैं—१-कर्म, २-विकर्म, ३-अकर्म।

कर्मणा ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणोऽपि बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः॥

कर्म क्या है? विकर्म क्या है? अकर्म क्या है? यह सब समझना चाहिए। कर्म की महिमा अपार है। कर्म की गहन गम्भीर गति हमें मोक्ष के समुद्र से मिला देगी, यदि हम ठीक तरह से समझ पावें तो।

कर्म याने ऊपरी स्थूल कर्म परन्तु विकर्म याने क्या? विकर्म याने विशेष कर्म—अधिक महत्व का काम। विकर्म याने मनोमय कर्म? जैसे रास्ते मे कोई पहिचान का आदमी मिला—उसे हम नमस्कार करते हैं। उस नमस्कार मे यदि हमने हृदय

नहीं रख दिया है तो केवल दिखाऊ दण्डवत् का क्या उपयोग ? वह नमस्कार तो हमें ही बोझ प्रतीत होगी। नमस्कार करने में यदि हृदय नहीं खुला, हलका न हुआ, तो न उल्टा उससे बन्धन ही पल्ले पड़ा बल्कि सिर पर और अधिक बोझा रख लिया।

अपने कर्म में हृदय का सहकार होना चाहिए। उसमें आत्मा उड़ेल देना चाहिए—तभी वे काम सुन्दर बन पड़ते हैं और उनका बोझा नहीं मालूम पड़ता। कबीर जब कपड़े बुनता था तब 'झीनी, झीनी, झीनी, झीनी बीनी चदरिया' गाते गाते मस्त हो जाता था। बाज़ार में जब वह उन वस्त्रों को लेकर बैठता कि लोग उन कपड़ों पर टूट पड़ते। जैसे वे अमोल हों—क्योंकि उन वस्त्रों में कबीर की आत्मा थी, उनमें उसने अपना हृदय उड़ेल दिया था। और हृदय का मोल कौन कर सकता है ?

'रुकमन ने तुलसी पत्ता में तौले री गिरधारी' *

ऐसा स्त्रियाँ गाती हैं। सत्यभामा ने सारे अलंकार पलड़े पर रख दिए तो भी कृष्ण तुल न सके। परन्तु रुक्मिणी ने भक्ति-भाव से एक तुलसीदल रख दिया तो कृष्ण का पलड़ा ही हलका होगया। सुदामा कृष्ण के पास चार मुट्ठी तंदुल ले गए, परन्तु द्वारका के स्वामी जैसे उन तंदुलों पर टूट पड़े। सुदामा को सोने की नगरी देकर भी उन तंदुलों का मोल न चुकाया जा सकता था। वे तंदुल साधारण न थे—वे जादू भरे थे—उन तंदुलों में सुदामा का प्रेममय हृदय था।

प्रश्न यह नहीं है कि चीज़ छोटी है या बड़ी। प्रश्न यह है कि उसमे हमारा हृदय है कि नहीं। किसानो की एक कहावत है—खेत में जो बीज डालो तो उसे ऐसी ज़मीन में डालना चाहिए जो गहरी हो और गीली भी हो, तभी उसमें अंकुर फूटेगा। उसी

* "रुक्मणी ने एका तुलसी दला ने गिरिधर प्रभु तुलिला।"

प्रकार अपने काम मार-कूटकर न करना चाहिए। उनमें हृदय का गीलापन रहना चाहिए। हम दक्षिणा देते हैं—उसे हम गीली करके देते हैं और ऊपर तुलसी का पात रख देते हैं। इसका क्या कारण है ? दक्षिणा चाहे पैसे की हो पर यदि हृदय के भाव से आर्द्र हो तो उस पैसे की क़ीमत कुबेर की सारी सम्पत्ति से भी अधिक है। अपने नाम का पत्थर लगवाने के लिए लोग लाखों रुपये खर्च करते हैं पर उस पत्थर को लेकर क्या हम चाटें ? उसकी अपेक्षा तो नेह-तरङ्ग मे दी हुई दमड़ी अधिक महत्व की है। भीम ने यहाँ वहाँ कितना ही भोजन किया पर कुन्ती माता के हाथ के एक ही ग्रास में उसे सन्तोष होता था। मा के हाथों दिया हुआ कौर ! उसमें अमृत का समुद्र है। मा ने यदि चार लकीरो का पत्र भेजा और किसी ने आधा सेर वज़न का निबंध लिख भेजा तो उनमें मा की चार लकीरें ही अधिक वज़नदार हैं। रामायण मे वर्णन है कि प्रभु राम ने हताहत वानरो की ओर प्रेम से निहारा तो वे स्वस्थ और सजीव हो उठे। राम ने कितनी उत्कट भावना से निहारा होगा ? उस दृष्टि में उनकी सारी आत्मा समाहित रही होगी। हम देखने को आँखें कितनी फैलाते हैं और राम ने कितने अंश के कोण से देखा यह मालूम भी हो जाय तो इससे क्या होने वाला है।

कर्म में विकर्म ढालो। ऊपरी कामों मे हृदय की सहायता लो, तभी वह कर्म प्राणमय होगा, जीवन-मय होगा और फिर उस कर्म का बोझा तुम्हें तनिक भी मालूम न पड़ेगा। मा अपने बेटे की सेवा करने में क्या कभी ऊबती है ? तुम किसी मा से पूछकर देखो, कि 'हे मा, इस बीमार बच्चे की शुश्रूषा तू कितने दिन करेगी ? इसे दवाखाने में ले जाकर इसकी सेवा मुझे करने दे।' तुमने यो कहा तो वह माता तुमसे कहेगी—'मैं नहीं थकी भाइ, मैंने ऐसा कौन-सा बड़ा काम किया है ? मेरा आनन्द

मत छीनो। रात दिन सेवा करके भी मा आनन्द का अनुभव करती है। क्यों? इसलिए कि उसकी सेवा में विकर्म है, मन का सहकार है।

कर्म में विकर्म का समावेश किया कि वही अकर्म हो जाता है। जिस कर्म में हृदय उड़ेल दिया है वह भार नहीं बनता। ऐसा प्रतीत होता है जैसे करके भी न किया हो। जनाबाई लगातार पीसती थी, पर मानो उसे थकान ही न होती थी। पांडुरंग (श्रीकृष्ण) ही जैसे अपना हाथ लगा देता था। भाव-भक्ति का पांडुरंग, अन्तर के मर्म में स्थित पांडुरंग ही जैसे उसकी जोड़ी बन गया, इसीलिए उसे ऊब नहीं, थकान नहीं। रातदिन पीसकर भी मानो वह मुक्त ही थी।

विकर्म की ऐसी महान् शक्ति है। बन्दूक की छोटी गोली परन्तु उसमें आग लगाओ तब दिख पड़ेगा उसमें कितनी शक्ति है। विकर्म के सम्बन्ध में भी यही है। छोटे से कर्म में विकर्म की शक्ति उड़ेल देने से मोक्ष-फल हाथ आ जाता है। एक ऊबड़-खाबड़, टेढ़ा-मेढ़ा लक्कड़ है। उसे किसी के सिर में मारें तो सिर फूट जायगा, परन्तु उस लक्कड़ मे सींक लगाओ तो वह राख हो जायगा। उस भस्म को लें, प्रसन्नतापूर्वक उसका शरीर पर लेप करें। तब क्या हम सोचेंगे कि यह राख उसी लक्कड़ की है? परन्तु यह निरुपद्रवी राख उसी लक्कड़ की ही है।

जिस कर्म में मन नहीं है वह बोझिल लगता है, उसका भार मालूम पड़ता है; परन्तु कर्म में विकर्म उड़ेला कि वह हलका प्रतीत होता है। भगवान् विष्णु का वर्णन है?

'शान्ताकारं भुजग शयनं'

सर्प पर सोते हुए भी वे शान्त हैं। महात्माजी से एक दिन किसी ने पूछा, "तुम प्रचण्ड आन्दोलन करते हो। कितनी

हैं तुम्हारी हलचलें और कितनी हैं उनपर होने वाली टीका टिप्पणियाँ ! यह सब करते हुए तुम्हे कैसा लगता है ?" उन्होंने उत्तर दिया, "अन्तर मे तान पूरा छिड़ा ही है।" महात्माजी के जीवन मे वह संगीत कहाँ से आया ? यह शान्ति कहाँ से आई। वे जो करते हैं, उसमें उनका विकर्म रहता है, इसीलिये उनके मन की शान्ति डिगती नहीं, प्रसन्नता बनी रहती है।

श्री रवीन्द्रनाथ ने 'साधना' में कहा है, "जब हम कुए से एक गागर पानी भरकर आने लगते हैं तो कमर पर गागर मालूम पड़ती है, सिर पर उसका भार मालूम पड़ता है; परन्तु जब हम पानी मे घुसते हैं और बार बार डुबकियाँ लेते हैं तब हजारों घन-फुट पानी सिर पर होते हुए भी उसका बोझा हम सुख से सिर पर उठा लेते हैं।" इसी प्रकार जो जनता की सेवा में डूबा उसे आलोचना का, निन्दा अपमान का बोझ नहीं मालूम पड़ता। वह तो उसे सहज ही सहन करता है।

यह शक्ति कहाँ से आती है ? कैसे आती है ? विकर्म से आती है। जो जो सेवा चुनो उसमें अन्तःकरण उड़ेल दो। हमारा हृदय ही अमृत-घट है। हृदय के प्रेम का गुलाब-जल प्रत्येक कर्म पर सींचते जाओ। वह कर्म तेजोमय बनेगा। उसकी झाँकी आनन्दमय हो उठेगी। उसका वजन न लगेगा, ऐसे तेजोमय कर्म समाज को तेजस्वी बना कर रहेंगे।

रवि को रविवार की छुट्टी नही है। नदी को कभी भी छुट्टी नहीं। उनका सेवा कार्य दिन रात चल रहा है। इसी तरह जो सेवा में अपनी अन्तरात्मा उड़ेलता है उसे थकान नहीं होगी, जी नहीं ऊबेगा। उसका आनन्द कर्म में ही है। कर्म में ही मोक्ष। कर्म करते हुए भी वह मानो अकर्मी है।

सन्त कभी भी सेवा-कर्म नहीं छोड़ते क्योंकि उन्हें ऐसा नहीं लगता कि मोक्ष कोई भिन्न वस्तु है। श्री तुकाराम ने एक जगह विनोद-पूर्वक कहा है—

पुण्डरीक क्या दीवाना है? भूल गया क्या मान को?
युग-युग से जो खड़ा कर रखा है तूने भगवान को? ※

"हे पुंडलीक! मेरे विठोबा को तूने युग-युग से क्यों खड़ा कर रखा है?" पुंडलीक माता-पिता के चरण चाँप रहा था। उस सेवा के कारण प्रभु दर्शन देने आए। पुंडलीक ने एक ईंट फेंकी और कहा इस पर खड़े रहो। उसे मालूम था कि मेरे जिस सेवा-कर्म से पांडुरंग दौड़कर आया है, जब तक मैं वह सेवा कर रहा हूँ तब तक वह जायगा कैसे? मेरी सेवा में ही उस प्रभु को सदा के लिए बाँधकर रखने की सामर्थ्य है।

इसलिए साधन में ही जिओ, कर्म से हृदय उड़ेलो, मोक्ष तुम्हारे सामने आकर खड़ा हो जायगा।

आज हम बहुत अधीर हो उठे हैं। जरा कुछ किया कि देखते हैं फल मिला या नहीं। अबोध बालक बीज को मिट्टी में बोकर तुरन्त ही उत्सुक होकर देखने लगता है कि अंकुर फूटा या नहीं? हमारे सम्बन्ध में भी वही है। जरा जेल गए और लगे देखने कि स्वराज्य मिला कि नहीं। अरे! स्वतंत्रता के साधन में इतने रमो कि वह स्वतंत्रता एक दिन सामने आकर खड़ी हो जाय। रामकृष्ण परमहंस कहते थे, 'कमल की कली कीचड़ में खड़ी-खड़ी आतप और वात में तपस्या करती रहती है। एक दिन वह फूलती है, तब भ्रमर स्वयं आकर कली से कहते हैं—'कमल कलिके! तू फूल उठी।'

※ "काँ रे पुंड्या मातला सी
उभें केलें विठोबा-सी"

इस तरह जो भी हाथ में लो उस सब मे प्राण उड़ेलो। परिणाम मे तो फल मिलेगा ही और तुम्हें हल्का-हल्का लगेगा। कर्म-भार नहीं बनेगा। तुम मुक्त दशा का अनुभव करोगे।

कर्म मे विकर्म भर देने से एक प्रकार की अकर्म-मय दशा का अनुभव कैसे होता है, वह सन्तों के पास जाकर सीखना चाहिए। चौथे अध्याय के अन्त में कहा है—

'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'

जाओ, सन्तो के पास जाओ—देखो कि वे कैसे बरतते हैं। ज़रा जाकर महात्माजी के पास बैठो। उनकी अखण्ड सेवा-वृत्ति, उनकी नम्रता, उनका आनन्द, उनकी शान्ति, उनका वह मुक्त हास्य। उनके पास जाओ और यह सब समझ लो।

ऐसे बड़ो के पास रहने से अपने अनेक संशय मिट जाते हैं। ऐसा होता है कि 'गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यस्तु छिन्न संशयः'। इसलिए हम कभी-कभी बड़ो के पास जावें। सत्संगति करें। बड़े-बड़े ग्रन्थ पढ़कर ही सच्चा ज्ञान होने वाला नहीं है। सच्चा ज्ञान तो अन्त में जीवन से ही उत्पन्न होता है। जिसने अपने जीवन का पवित्र दीप उद्दीप्त करके रखा है उनके पास पहुँचकर ही हमे अपने जीवन में प्रकाश भरना आ सकेगा।

पाँचवाँ अध्याय

कर्म मे विकर्म का समावेश किया कि वह कर्म अकर्म बन जाता है। कर्म करते हुए भी जैसे संन्यासी हो। मानो कि संन्यासी कोई भिन्न वस्तु ही न हो। पाँचवें अध्याय में कर्म-योग और संन्यास की तुलना की गई है। कर्मयोग श्रेष्ठ है कि संन्यास? कौन-सा मार्ग ग्रहण करना चाहिए? भगवान् कहते

हैं ' अरे संन्यास और कर्मयोग क्या भिन्न-भिन्न हैं ? संन्यास और कर्मयोग में अन्तर बतलाने वाले मूर्ख हैं '। बिलकुल यही बात है। संन्यास और कर्मयोग एक ही सिक्के की दो बाजुएँ हैं।

फिर भी कहा है ' कर्मयोगो विशिष्यते '। यह किस अर्थ में कहा है। संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग मे ऐसा विशेष क्या है ? यह कि कर्मयोग हम समझ सकते हैं। रात-दिन काम करते हुए भी ऐसा अनुभव करना कि जैसे कुछ किया ही न हो यही कर्मयोग है। इस बात का हम जीवन में अनुभव कर सकते हैं। इसकी कल्पना कर सकते हैं। मा बालक की सेवा करती है। परन्तु उसे उस सेवा का भार नहीं लगता। हम मित्र के लिए कुछ परिश्रम करें तो वह बोझिल नहीं लगता। कर्मयोग समझने में सहज है। कर्म करते हुए भी उसकी दशा का अनुभव करना ज़रा सरल है; और संन्यास तो कुछ न करते हुए भी सब करना है। कर्मयोग तो सब करके कुछ न करने जैसा अनुभव करना है। इनमें संन्यास समझना ज़रा कठिन है। कुछ न करते हुए सभी कुछ कैसे करें, यह जल्दी नहीं समझा जा सकता; परन्तु कर्मयोग की कल्पना हम कर सकते हैं यही उसकी विशेषता है। सरलता की दृष्टि से ही कर्मयोग विशेष है। नहीं तो दोनों एक ही हैं। चौथे अध्याय में कहा है—

" इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ "

प्रभु ने यह योग पहिले सूर्य को सिखाया और सूर्य से मनु याने विचार करने वाले पहिले मानव ने सीखा। सूर्य कर्मयोग और संन्यास की मूर्ति ही है। सूर्य को कर्मयोगी कहें कि संन्यासी ? सूर्य उदयाचल पर आकर केवल स्थित रहता है। परन्तु ज्योंही वह पूर्व दिशा में आकर खड़ा होता है त्योंही सारे

जगल मे चहल-पहल आरम्भ हो जाती है। पक्षीगण उड़ने लगते हैं। गौएँ चरने के लिए जाती हैं। मनुष्य जागकर विभिन्न उद्योग करने लगते हैं। अन्धकार का सारा अस्तित्व-सा ही तिरोहित हो जाता है। सूर्य के आते ही सारे विश्व को गति मिल जाती है। वेद में कहा है—

'मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो'

वह सूर्य मूक रहकर भी जैसे आह्वान करता है। प्राणि-मात्र को उद्योग में जुटाता है। ऐसा जो सूर्य है यदि हम उससे कहें कि हे सूर्यनारायण कैसा महान् है तेरा कर्तृत्व! तूने सारा अँधेरा दूर किया। सम्पूर्ण संसार को चेतना से ओत-प्रोत किया। तुझे कोटि-कोटि प्रणाम। तो सूर्य कहेगा—तुम क्या कहते हो, मुझे समझ में नही आ रहा? मैंने कौन-सा अन्धकार दूर किया। जरा चुटकी भर लाकर तो मुझे बताओ। भाई, मैं कुछ नहीं करता। मै तो केवल यहाँ आकर खड़ा हूँ। सूर्य कुछ न करके भी सब कुछ करता है और सब कुछ करके भी कुछ नहीं करता। संन्यास और कर्मयोग की वह मिश्रित मूर्ति है। विचारवान मानव से जैसे वह कह रहा है कि कर्मयोग और संन्यास एक ही है।

हम कहते हैं कि शुक, याज्ञवल्क आदि ने संन्यास मार्ग ग्रहण किया। जनकादि ने कर्मयोग स्वीकारा। परन्तु याज्ञवल्क के ही शिष्य जनक और जनक के ही शिष्य शुक। संन्यासी का कर्मयोगी शिष्य और कर्मयोगी का शिष्य संन्यासी। गुरु और शिष्य में कोई भेद ही नही रहा। इसलिए संन्यास और कर्मयोग मूल मे एक ही हैं।

वही संन्यास सच्चा जिसमे अपरम्पार कर्म-शक्ति हो। भौंरा जब अति तीव्र गति से घूमता है तब स्थिर प्रतीत होता है।

शुकाचार्य संन्यासी थे परन्तु परीक्षित को जब भागवत सुनाने लगे तो सात दिन थमे नहीं, जैसे अगाध कर्म-धारा ही बहाते रहे।

मानलो कि महात्मा जी अचानक आकर यहाँ खड़े हो जावें, तो उनके आते ही सब लोग उठ बैठेंगे, सफाई करने लगेंगे, उद्योग में लग जावेंगे। केवल महात्माजी की उपस्थिति ही प्रचंड गति का आविर्भाव करेगी। तो संन्यास का अर्थ है—कर्म करने की अपरम्पार प्रेरणा देने की शक्ति।

मा बच्चे पर नाराज होती है, बोलना बन्द कर देती है, वह एक भी शब्द नही बोलती, बालक मनमे दुखी होता है वह मा के पास जाता है कहता है—"मा! तू मुझे दो थप्पड़ लगा ले, पर बोल! तेरा न बोलना ही मुझे बहुत पीड़ा दे रहा है। मा तेरा चुप रहना मुझ से सहन नही होता।" मा के इस अबोल में कितने बोल हैं।

चाँगदेव ज्ञानेश्वर को पत्र लिखने लगे, परन्तु उनकी समझ में नहीं आता था कि तीर्थस्वरूप लिखें कि चिरंजीव लिखें? ज्ञानदेव उमर मे छोटे किन्तु ज्ञान मे बड़े। आखिर चाँगदेव ने कोरा ही पत्र भेज दिया। वह पत्र मुक्ताबाई ने देखा तो बोली कि "अरे चाँग तूने इतना पढ़ा तब भी कोरा का कोरा ही रहा।" और ज्ञानदेव ने उस कोरे पत्र को पढ़कर ही उत्तर भेज दिया।

पाँडुरंग पंढरपुर में कटि पर हाथ रखे मूक खड़े हैं। परन्तु इसका अर्थ शंकराचार्य ने जाना। उन्होंने पाँडुरंग-अष्टक में कहा है, कटि पर हाथ रखे, मूक खड़े पाँडुरंग मानो कह रहे हैं कि मेरे भक्तों के लिए संसार-सागर कमर तक ही गहरा है।

संन्यास में ऐसा अपार अर्थ भरा है; उसीका संन्यास सच्चा जिसकी स्थिति-मात्र से ही सारे विश्व को प्रेरणा मिलती है। जिसने जन्म जन्मान्तर अपरम्पार सेवा की हो उसके ही संन्यास में ऐसी शक्ति उत्पन्न हो सकती है। पिता ने जीवन भर खेती मे खपकर अनेक कष्ट उठाए। अब वह बूढ़ा हुआ। अब उसका लड़का काम करता है। बेटा जब शाम को थककर आता है तो बाप उसकी पीठ पर हाथ फेरता है और कहता है 'बेटा तू तो थक गया और मुझ से अब कुछ नहीं होता।' पुत्र कहता है—"बाबा, तुम्हारी स्नेह-भरी दृष्टि में, तुम्हारे प्रेम-पूर्वक हाथ फेरने में सभी कुछ है।" तुम्हारी कृपा-दृष्टि ही मुझे अपार शक्ति प्रदान करती है।" पिता के उस सिकुड़े हुए हाथ में, संन्यासी हाथ में पुत्र को कर्म के प्रति प्रेरित करने को असीम शक्ति है।

कर्मयोग और संन्यास एक ही है। जैसे पाषाण का अर्थ पत्थर उसी तरह कर्मयोग का अर्थ संन्यास। जीवन मे ऐसे निष्काम कर्म का बाना धारण करना चाहिए। कर्म करते हुए मुक्त-स्थिति का अनुभव करना चाहिए। यह मुक्त-स्थिति एकदम तो कुछ आ नही जावेगी। धीरे-धीरे प्रयत्नों द्वारा यह स्थिति प्राप्त करना चाहिए।

कर्म करने से चित्त-शुद्धि होती जाती है। कर्मों में ही अपना स्वरूप पहिचाना जाता है। मानो कि कोई हिमालय हो आया। उसे लगता है कि उसे शान्ति प्राप्त हो गई। उसे कोई भक्ति-भाव से भोजन के लिए निमंत्रण देता है। बाबाजी भोजन के लिए आते हैं। वहाँ एक बालक दरवाजे की साँकल के साथ क्रीड़ा करता है। वह बच्चा नाद-ब्रह्म मे मग्न है। परन्तु हिमालय से शान्ति प्राप्त करके आए हुए बाबाजी को उस की क्रीड़ा खट-खट मालूम पड़ती है? उस आनन्द-मूर्ति बालक पर नाराज़ हो

उठते हैं। ऐसी शान्ति किस काम की ? तुम्हारे पल्ले कितनी क्षमा-शान्ति है उसकी जीवन में परीक्षा दो।

हम रातदिन काम करते हैं। काम करते हुए अनेक लोगों से हमारे सम्बन्ध आते हैं। कभी हम क्रोधित होते हैं, कभी झगड़ते हैं। कभी हमारे मन में द्वेष-मत्सर आते हैं। इस तरह हमें दिखने लगता है कि हमारे मनमे क्या-क्या मलिन है। हम उन दोषों को दूर करने का प्रयत्न करने लगते हैं। उत्तरोत्तर निर्मल बनते जाते हैं। कपड़ो को धूप में डालने से जैसे छुपे हुए खटमल भाग जाते हैं वैसे अपने मन में छुपे रागद्वेष काम, क्रोध कार्य करने में प्रकट हो जाते है। उन्हें पकड़ें और मसल डालें।

तीसरे अध्याय में भगवान ने कहा है कि काम और क्रोध से सावधान रहो। पाँचवें अध्याय में फिर वही कहा है। काम-क्रोध को जीते बिना कर्मयोग की साधना कैसे होगी ? हमारे हाथों उत्कृष्ट कार्य कैसे हो सकेंगे ? उनमें विकर्म उड़ेलते कैसे बनेगा ? कर्म करते हुए अकर्मी दशा का अनुभव करना कैसे सम्भव होगा ?

मन निर्मल और प्रसन्न रहा तभी हमारे हाथों श्रेष्ठ सेवा बन पड़ेगी। इसलिए सदा प्रयत्न करें, खटपट करें। खटपट ही तो मानव का सौभाग्य है। जिसकी हलचल बन्द हो गई वह या तो मुक्त है या पशु है। जिसके जीवन में हलचल है उसे आशा है। हमारे सामने कर्मयोगी का दिव्य आदर्श है। हमें उस आदर्श की ओर अपने क़दम बढ़ाते जाना है। मन्दिर का शिखर दूर दिखता है और हमारे क़दम हाथ-हाथ भर के ही पड़ते हैं। इसी तरह ध्येय को एकदम समेट पाना शक्य नहीं। प्रयत्न-पूर्वक जाना पड़ेगा। गए दिन की अपेक्षा आज अच्छे बनें। आज की अपेक्षा कल और अधिक—यों ही करते जावें। उत्तरोत्तर अधिक अच्छे न बन सकें तो रोवें—मीराबाइ ने कहा है—

'अँसुअन जल सींच सींच प्रेम-बेलि बोई'

मैंने नयनों से आँसू ढाल-ढाल कर प्रेम की लता को पनपाया है। ऐसे धन्य आँसू किसके पास हैं ? जर्मन कवि गेटे कहता है 'जो कभी रोया नहीं उसे ईश्वर मिल नहीं सकता'। हम पग-पग पर अपूर्णता का चेत होने पर रोने वाले और प्रयत्न पूर्वक पूर्णता की ओर अग्रसर होने वाले यात्री यात्रा कर रहे हैं। वह अन्तिम दिवस कब आएगा कि जिस दिन सम्पूर्ण विकास से भेंट होगी। तुकाराम महाराज ने कहा है:—

इसलिए हमने किए सारे उपाय
आ रहे अन्तिम दिवस मे माधुरी।। ❀

पत्थर फोड़ने वाला चोट करता है। आखिरी चोट में पत्थर के टुकड़े हो जाते हैं। परन्तु क्या पहिले की गई चोटें अनुपयोगी थी ? महात्माजी ने लिखा था 'प्रयत्न का अर्थ ही यश-सिद्धि है'। प्रत्येक प्रयत्न, प्रत्येक कदम हमें उत्तरोत्तर आगे ही ले जाता है। और एक दिन सम्पूर्ण ज्ञान हो जायगा, सारे कल्मष धुल जाँयगे। परन्तु सारा ज्ञान इस देह में समा नहीं सकता। देह फट जायगी—शरीर गल जायगा। देहधारी का जीवन्मुक्त होना कठिन है। हम जनकादि को जीवन्मुक्त कहते हैं। इसका इतना ही अर्थ है कि वे ध्येय के अधिक से अधिक पास पहुँच गए थे। रेखा-गणित में हम कहते हैं कि—मान लो यह एक सरल रेखा है। रेखागणित में पद-पद पर 'मान लो' शब्द मौजूद है। क्योंकि रेखा खींची कैसे जावे ? रेखा की उसमे लम्बाई है पर चौड़ाई नही—चौड़ाई को छोड़कर लम्बाई कैसे खींची जावे ? यदि ऐसा कहा जावे कि बरफी की लम्बाई खाओ,

---

❀ " याज साठीं केला होता अट्टाहास
शेवटचा दिवस गोड व्हावा।"

चौड़ाई नहीं, तो क्या बरफी खाते बनेगी ? फिर भी हम रेखा खींचते ही हैं। कम से कम चौड़ाई की खींचते हैं परन्तु निर्दोष रेखा हम खींच नहीं सकते। इसी तरह सम्पूर्ण संन्यास-सारा कर्मयोग इस शरीर देह में समा नहीं सकता। कितना ही करो आत्मा से यह मिट्टी का लौंदा चिपटा जो है। थोड़ी बहुत अपूर्णता रहती ही है। वह तो शरीर-पात के बाद ही मिटती है। तुकाराम कहते हैं:—

स्थिर हुई उद्योग की अब दौड़-धूप
देह की गठरी पड़ी प्रभु-पदो मे। ❀

ज्योंही सारे उद्योग नष्ट हो जाते हैं त्योंही अपना परम-स्वरूप सर्वत्र दृष्टि गोचर होता है और देह की यह गठरी प्रभु के चरणो में समर्पित हो जाती है। जीवन कृतार्थ हो जाता है।

छठवाँ अध्याय

छठवें अध्याय मे यह कहा गया है कि जीवन में कर्मयोग कैसे उतारें, उसके लिए कौन से उपाय करें। जीवन को यशस्वी बनाने के लिए संयम की अत्यन्त आवश्यकता है। यदि मनुष्य और पशु में कोई अन्तर है तो वह यही कि मनुष्य अपनी वासना और विकारो पर अंकुश रख सकता है। संयम हीन मनुष्य तो वृक, व्याघ्र जैसा ही है। संयम के बिना जीवन का कोई मूल्य नहीं। प्रसिद्ध पश्चिमी तत्वज्ञानी कार्लाइल कहता है 'लोग उसी घोड़े की क़ीमत करते है जो अपने को लगाम लगाने देता है, पीठ पर जीन कसने देता है, परन्तु जो घोड़ा लगाम नहीं लगाने देता उसे अपने पास कौन रखेगा ? घोड़े की लगाम

❀ 'उद्योगाची धांव बैसली आसनीं पडलें नारायणी मोटळें हें'

चमड़े की होती है—मनुष्य को कौन-सी लगाम लगाई जावे ?' मनुष्य को अपनी ही विवेक की लगाम लगानी चाहिए तभी उसका मूल्य बढ़ेगा।

समाज-सेवा का जो कार्य हम हाथ में लें वह उत्तम बन पड़े यह सचमुच ही यदि हमारी इच्छा हो तो हमे अपनी सारी इन्द्रियो का संयम रखना आवश्यक है। भगवान शंकर ही योगियो के मुकुट-मणि कहे जाते हैं। परन्तु वे योगियों में अग्रणी कैसे हुए। उन्होने ज्ञान का नेत्र उद्दीप्त कर रखा है। तमाम इन्द्रियो पर इस ज्ञान-चक्षु की दृष्टि है। टेढ़ी-मेढ़ी चीज़ उसके सामने भस्म हो जावेगी। हमें विवेक वैराग्य का तीसरा नेत्र खुला रखना चाहिए।

धर्म ऐसा नहीं कहता कि जो स्वाभाविक क्षुधा है उसका समूल दमन करो। परन्तु धर्म कहता है कि उन पर मर्यादा बाँधो। 'सोओ मत' यह धर्म नही कहता, पर 'जल्दी सोओ, जल्दी उठो' यह धर्म कहता है। 'खाओ मत' यह धर्म नही कहता, परन्तु 'जो परिमित से और शरीर के लिए हितकारी हो वही खाओ—यह धर्म कहता है। तुकाराम महाराज कहते हैं—

विधि-पूर्वक बरतना
यही धर्म पालना। *

विषयों का संयम-पूर्वक सेवन करो। ऐसा करना धर्म-पालना करने के ही समान है। सर्वत्र मर्यादा का पालन करो। प्रभु रामचन्द्र को हम मर्यादा पुरुषोत्तम कहते है। जिसे पुरुषोत्तम होना है, नर से नारायण होना है उसे मर्यादा का बन्धन बाँध लेना चाहिए।

---

* 'विधी नें सेवन धर्माचे पालन।'

ज्ञानेश्वरी के इस अध्याय में अत्यन्त मधुर पद आया है। सन्त ज्ञानेश्वर कहते हैं—"अरे, योग का अर्थ क्या है? योग का अर्थ है, परिमित बोलना, परिमित चलना, परिमित सोना, परिमित आहार करना।" इन्द्रियों को प्रमाण के अनुसार देते चलो। इससे उन्हें भी सन्तोष होगा और जीवन में सुख शान्ति बढ़ेगी।

हमें कोई चीज़ पसन्द है यदि हम उसे ही खाने बैठें तो बीमार हो जावेंगे। किसी समय यदि जगते ही रह गए तो स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। स्वधर्म में बाधा न हो इसलिए शरीर स्वस्थ रहना चाहिए। शरीर स्वस्थ रहा तो मन प्रसन्न रहेगा। पश्चिमी पण्डित कार्लाइल कहता है 'हमारा आधा तत्वज्ञान पेट की हालत पर निर्भर है।' जिसको हमेशा अपच रहता है, और सिर दर्द करता रहता है, उससे हाथों स्वधर्म कैसे बन पड़ेगा! मेजिनी महान् इटेलियन देशभक्त एक बार बोला—'मेरे देश को मेरी ज़रूरत है, मैं बीमार कैसे पड़ सकता हूँ।' यह शरीर सेवा के लिए है उसे नीरोग रखना चाहिए। महात्माजी पाँच चीज़ों से अधिक नहीं खाते। जिसने रसना का संयम सीख लिया उसे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य-लाभ हुए बिना नहीं रहेगा।

संयम से जीवन में आनन्द का प्रादुर्भाव होता है। संगीत गूँज उठता है। रवीन्द्र कहते हैं—'संयम से विकास होता है, वृक्ष को धरती पर जड़ों से बाँध रखा है तभी वह ऊँचा उठता है, फूल-फलों से शोभित होता है। वृक्ष यदि कहे कि यह जड़ों का बन्धन क्यों? मुझे ऊपर उड़ने दो; तो क्या वह वृक्ष हरा-भरा हो सकेगा? वह तो सूख जायगा। वह बन्धन में है इसीलिए बढ़ता है। नदी दोनों ओर किनारों के बन्धन में है

इसलिए उसमें गति है, गम्भीरता है। तार सितार में बँधे हैं इसलिए उनसे दिव्य-संगीत उत्पन्न होता है। संयम की ऐसी महिमा है। संयम के विना संस्कारिता नहीं, विकास नहीं।

न्यायमूर्ति रानडे को आम बहुत अच्छे लगते थे। किसी ने उन्हे एक वार कलमी आम भेंट किए। रमाबाई ने आम की सुघर फाँकें काट कर उन्हें तश्तरी में लाकर सामने रख दी। न्यायमूर्ति महत्व-पूर्ण कार्य में व्यस्त थे। तो भी उन्होने एक दो फाँकें खाईं। रमाबाई को बुरा लगा। मै तो इतना आम काटकर लाई और न्यायमूर्ति ने दो ही फाँकि खाईं यह देख उनका मन विकृत हुआ। बाद में कार्य समाप्त हो जाने पर न्यायमूर्ति ने हँसकर पूछा—'चेहरा क्यों उतर गया? क्या हो गया?' रमाबाई ने कहा—'मैं तो कितने मन से इन्हें लाई और तुमने खाए तक नहीं।' न्यायमूर्ति ने कहा—'आम मुझे पसन्द हैं तो क्या ज़िन्दगी भर उन्हें खाता ही रहूँ?' तुम स्वयं काटकर लाईं इसलिए तो दो फाँकें खाईं। खाने-पीने के आनंद से बढ़कर और दूसरे आनन्द हैं। हमे अपना मन उस ओर लगाना चाहिए।

हम बहुत-सा समय इसी क्षुद्र बात की चर्चा मे गँवाते हैं। अपनी शक्ति का उसी में अपव्यय करते है। आज क्या-क्या खाया? कैसा बना था? यही बाते करते हैं। चप-चप करके खाते हैं। असल मे देखा जाय तो माधुर्य पदार्थ में नही है, हमारे अन्तर में है। जो सामने आवे उसे मधुर बनाकर ग्रहण करना सम्भव हो सकता है। मा के हाथ के चोकर के मोड़े ही मीठे लगते हैं। क्योंकि उनमें हम अपने अन्तरतम की माधुरी उड़ेल देते हैं। उपनिषद् मे कहा है कि सब रसों में उत्कृष्ट रस यह आत्मा ही है। आत्मा ही माधुर्य-सागर है। मा को अपना पुत्र मधुर लगता है क्योकि वह अपने अन्तरात्मा की माधुरी उस मे भर देती है। वेद-मंत्र मे कहा है न—

'अन्तर्हृदा मनसा पूयमानः घृतस्य धारा अभिचाकशीमि'

हमारा भरित हृदय और पूरित मन ही घी की धार है। मा ने सादा भात परोसा तो भी उसमें सारा दूध-घी आ ही जाता है।

हमारा जीवन हेतुमय है। व्यर्थ गँवाने के लिए नहीं है। हमें पुरुषार्थ की प्राप्ति कर लेना है।

"मन पछितैहै अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरि पद भजु, करम वचन अरु ही ते॥" ॐ

इस शरीर के साधन से परमेश्वर को पाना है। व्यर्थ बातों में समय मत खोओ। शक्ति खर्च मत करो। आहार-विहार सभी में प्रमाण रक्खो। प्रमाण में ही सौंदर्य है। जीवन को सुन्दर बनाना है तो सर्वत्र प्रमाण का निर्वाह करो।

कर्त्तव्याचरण में व्याघात न पड़े इसके लिए शरीर तेजवान और निरोगी होना चाहिए। मन प्रसन्न रहना चाहिए। मन प्रसन्न रखने के लिए कभी कभी हम सृष्टि के सौंदर्य पर दृष्टिपात करें। उस जगज्जननी ने हम तुम को रिझाने के लिए सृष्टि में अपरम्पार सौंदर्य-राशि भर दी है। वह उषा देखो, जैसे अमृत-तत्व की ध्वजा ही है। सुन्दर सूर्योदय देखो। सान्ध्य आकाश की रंग-छवि देखो। रात्रि का चन्द्रमा देखो। अनन्त तारागण देखो।

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति'

प्रभु का यह अमर काव्य नीचे ऊपर सर्वत्र फैला हुआ है। कभी हम उत्तुंग पर्वत शृंग पर जावें, कभी पवित्र नदियों के दर्शन करें, कभी प्रशान्त वन में प्रवेश करें, कभी तरंगमय अपरम्पार पारावार देखें—सृष्टि के दर्शन से मन की थकान

ॐ मानव देहाचे साधनें, सच्चिदानंद पदवी घेणें।

मिटती है। स्वामी रामतीर्थ कहते थे—'कभी मैं उदास हुआ तो एकदम बाहिर निकल पड़ता था। उस प्रवहमान पवन का शरीर से स्पर्श होते ही ऐसा लगता था कि जैसे नवजीवन व्याप्त हो गया है'। सृष्टि का स्पर्श जीवनदायी है। मनस्ताप-हारी है। संसार के निन्दा, अपमान, अपयश आदि के कारण जो मन में ग्लानि होती है वह सृष्टि सौंदर्य दर्शन से अस्तित्वहीन हो जाती है। इसीलिए भगवान कह रहे हैं कि तनिक नदी-किनारे बैठो। पंछी मधुर कल-रव कर रहे हैं, फैला हुआ शिखिपिच्छ दिख रहा है, हरिण उड़ान भर रहे हैं—ऐसे स्थान पर ज़रा बैठो, मन को विश्राम मिलेगा। वह पुनः उत्साह-पूर्वक कार्य करने के योग्य बनेगा।

हम सृष्टि के दर्शन करें, भोजन में मर्यादा रखें, थोड़ा बहुत खेलें। खेल भी पवित्र वस्तु है। भगवान् कृष्ण गोकुल में खेलते थे। उनके साथी मनसुखा को क्या कोई भूल सकता है? यमुना के तीर पर कृष्ण ने बाल-गोपालों के साथ अनेक प्रकार के खेल खेले—चाँचर, कबड्डी, गेंद, ढिपरी सभी खेल खेले। बहिन निवेदिता ने एक स्थान पर कहा है—'श्रीकृष्ण ने खेलों को भी दिव्यता प्रदान कर दी है।'

इस तरह आहार-विहार आदि क्रियाएँ परिमित प्रमाण में करणीय हैं। प्रकृति और आकाश के दर्शन करते जाओ। संयम रखो। ऐसा करो कि शरीर मन, बुद्धि, तेजस्वी और स्वस्थ रहें; तो अपना स्वधर्म कर्म अच्छा करते बन पड़ेगा। श्री तुकाराम ने भी कहा है—

मन चंगा, तो कठौती में गंगा। *

---

* 'मन करारे प्रसन्न, सर्व सिद्धी चें कारण।'

शरीर स्वस्थ रहा तो मन भी प्रसन्न रहेगा। तुम्हारी अन्तर्बाह्य प्रसन्नता से इतर जनों को भी सुख-लाभ होगा। उन्हें उत्साह और आशा मिलेगी। इस प्रकार जीवन में निर्दोष कर्मयोग प्राप्त करने के लिए चरम उद्योग करो। कृपालु ने मानो यहाँ सूक्ष्म संकेत किया है। उसे ध्यान में धरें और ऐसा करें कि जीवन सफल हो जावे।

सातवाँ अध्याय

छठवें अध्याय के अन्त तक हमने कर्म की महिमा देखी। कर्त्तव्य-कर्म ठीक बन पड़े इसलिए छठवें अध्याय मे भगवान ने साधना का भी प्रतिपादन किया। सातवें अध्याय से एक निराला ही पृष्ठ खोला गया है। सातवें अध्याय से बारहवें अध्याय तक भक्ति का ऊहापोह है। भक्ति साधनों में शिरोमणि है। इतर साधन साबुन, रीठा, सोडा के समान हैं परन्तु भक्ति निर्मल जल है। साबुन, रीठा, सोडा खूब रहे और पानी न रहे तो कपड़े साफ कैसे कर सकेंगे? परन्तु रीठा, सोडा, साबुन न भी रहे तो भी पानी मात्र से हम कपड़े ठीक धो सकते हैं। सफ़ाई कर सकते हैं। मन के सूक्ष्म विकार अन्त में भक्ति से ही धोए जाते हैं।

यह सृष्टि एक ही तत्व का विस्तार है। जैसे कोई कुशल चित्रकार एक ही तूलिका से, एक ही रंग से, विविध पशु-पक्षी, मनुष्य, प्राकृतिक दृश्य खींचता और रँगता है उसी तरह विश्वंभर करता है। सब जगह मसाला एक ही है ऊपरी रंग-रूप विविध हैं। परन्तु मूल में एक ही तत्त्व है। सारे ब्रह्माण्ड की बाह्य विविधता के अन्तर में स्थित परमात्मा को देखना, उसकी कला पहिचानना ही महत्व की बात है। जिसे यह सृष्टि मिल गई

उसे सभी कुछ मिल गया। जिसके पास यह दृष्टि नहीं उसको और कुछ मिला तो भी वह व्यर्थ है।

इस परम-आत्मा को सर्वत्र देखना ही सच्ची भक्ति है। परमात्मा की ओर हम भिन्न-भिन्न मार्ग से जाते हैं। भक्ति के भी भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इस अध्याय मे भक्तो के चार प्रकार कहे गए हैं।

आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ये चार प्रकार के भक्त हैं। इन चारो भक्तों के साथ 'उदार' विशेषण लगाया गया है। 'उदारा: सर्व एवैते' 'हे अर्जुन ये सारे भक्त उदार हैं।' उदारता के बिना भक्ति सम्भव ही नहीं हैं। और अधिक क्या कहा जाय? इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उदारता ही भक्ति है।

हमारे सरीखे दूसरे हैं इसी एक भावना के उदर से भक्ति का जन्म है। आर्त का अर्थ है दूसरे के दु:ख से दुखी होने वाला, केवल अपने दुख से आकुल होकर परमेश्वर को पुकारने वाला आर्त भक्त नही है। अपने सुख-दुख को ईश्वर के प्रति निवेदन करने वाला निम्न श्रेणी का हो ऐसा नही है। यह बात भी संसार में दुर्लभ है। सत्रह आदमियो के सामने मुँह फैलाने के बदले जग-नियंत्रक के सम्मुख दया की भीख माँगना भी असाधारण ही हैं। एक बार एक फकीर अकवर बादशाह के पास कुछ माँगने के लिए आया। उस समय बादशाह मस्जिद में प्रार्थना कर रहा था। ईश्वर से अधिक दौलत, अधिक राज्य माँग रहा था। बादशाह की वह प्रार्थना सुनकर वह फकीर चुपचाप लौट चला। परन्तु प्रार्थना के बाद बादशाह के सेवक ने जताया कि फकीर आया था। और वह वैसा ही लौट गया। अकवर ने उस फकीर को बुला भेजा। उसने उससे कहा—

'मेरे पास आकर ऐसा विमुख होकर क्यों गया? तुझे जो चाहिए सो माँग।' वह फकीर बोला 'शाहंशाह तुझसे माँगने का क्या अर्थ? तू भी मेरे समान एक भिखारी ही है। जिस परमेश्वर से तू माँग रहा था उसी से मुझे माँगने दे।'

तुकारामजी ने कहा हैं:—

जाऊँगा मे प्रभु की नगरी, वहीं आसरा पाऊँगा।
उससे अपने दुख-सुख कहकर अपनी भूख मिटाऊँगा॥ ❀

इस रीति से ईश्वर के सामने सुख-दुख कहने वाले, उसकी करुणा की चाह करने वाले भी एक प्रकार के आर्त भक्त हैं। परन्तु गीता का आर्त-भक्त और है, गीता का आर्त-भक्त उदार है। वह अपने दुख से दुखी नहीं है दूसरे का दुख देखकर दुखी है। छुटपन में स्वामी रामदास घर के एक कोने में छुप गए थे। उस समय उनकी उमर आठ-दस वर्ष की थी; परन्तु आस-पास का अपार दुख देखकर उनका हृदय जैसे द्रवित हो गया। मा खोज रही थी कि बालक कहाँ गया? अन्त में एक कोठे के किसी कोने में बालक मिला। मा बोली—'अरे, पागल यहाँ अँधेरे में क्या कर रहा है?' वह उदार हृदय का बालक बोला 'मा, मैं जगत की चिन्ता कर रहा हूँ।' समर्थ शैशव में ही संसार की चिन्ता करने लगे। सबको सुखी कैसे करें यह सोचने लगे। वह आर्त-भक्ति थी। विवेकानन्द के सम्बन्ध में एक ऐसी ही घटना है। एक रात उनको निद्रा आई ही नहीं। आँखों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। सारा सिरहाना भींग गया। उनके मित्रों ने पूछा 'क्या हुआ? क्यों रोते हो?' उन्होंने कहा 'क्या कहूँ, अपने देश की यह स्थिति कैसे सुधारूँ यही

❀ "जाऊँ देवाचिया गावाँ, देव देईल विसाँवा।
देवा साँगू सुख-दुख, देव निवारील भूक।"

चिन्ता मुझे रुला रही है। तुमने मनुष्य को पशु बना रखा है। अस्पृश्यो की कितनी दर्द-भरी अवस्था है। स्त्रियो की कैसी दुर्दशा है। चारो ओर विषमता और अज्ञान। जहाँ-तहाँ दासत्व; अपना भी और पराया भी मुझे लगता है कि जैसे आसमान ही फट गया है। परन्तु यदि मुझे सिंह के समान वक्ष के, निश्चय-वृत्ति के हज़ार सेवक, वीर मिल जावें तो मैं भारतवर्ष का स्वरूप ही बदल डालूँ।' ऐसी थी विवेकानन्द की भक्ति। दूसरे का दुख देख हमारे हृदय में लगातार तड़प होना ही आर्त-भक्ति है। विवेकानन्द ने देश भक्ति की व्याख्या करते हुए एक जगह लिखा है—'क्या तुम अपने देश बान्धवों के सुख-दुख से एक रूप हो गए हो? क्या उनकी नाड़ी की धड़कन पर ही तुम्हारी नाड़ी धड़कती है? क्या उनके हृदय के स्पन्दन पर तुम्हारे हृदय मे स्पन्दन होता है? बोलो, ऐसा हो तो मैं कहूँगा कि तुम देशभक्ति की पहिली सीढ़ी चढ़े हो।

ऐसा कह सकते हैं कि आर्त-भक्ति से ही जिज्ञासु-भक्ति उत्पन्न होती है। संसार मे दुख; है, अन्याय है, विषमता है, रोग हैं। मनुष्य मन मे सोचने लगता है कि ये अपार व्याधियाँ कैसे दूर करूँ। वह अपने आप से प्रश्न करने लगता है। रोग देखकर वह चर्चा करने लगता है कि यह रोग क्यो होता है? वह संशोधक हो जाता है। जगत मे फैले नाना प्रकार के दुखो को दूर करने के लिए प्रयोग करने लगता है।

ये जिज्ञासु-भक्त हमारे यहाँ अधिक नहीं हुए, पश्चिम मे ही इनकी बहुलता रही। एक इटेलियन-शास्त्रज्ञ प्लेग का कारण क्या है? यह खोजने लगा। प्रयोग के सिलसिले मे उसे प्लेग की गिल्ठी हुमस आई। बुख़ार में ही वह शोध का परिणाम लिखता रहा। एक जर्मन-शास्त्रज्ञ प्रयोग-शाला मे

प्रयोग करता था। अचानक ही स्फोट हुआ। फलस्वरूप उसकी एक आँख फूट गई, एक हाथ टूट गया। उसने दूसरे हाथ से परमात्मा को प्रणमन किया और बोला 'हे परमेश्वर अभी भी मेरी एक आँख सलामत, है, एक हाथ मौजूद है। मैं तेरा रूप खोज ही लूँगा।' ऐसे जिज्ञासु भक्त पश्चिमी संस्कृति के ही पल्ले पड़े हैं। कोई ध्रुव की ओर जाते हैं और वहाँ संशोधन करते हैं। कोई हिमालय के शिखर पर पहुँचने के लिए बार-बार चढ़ाई करने आते हैं। कोई यह प्रयोग करता है कि मानव सुख की वृद्धि कैसे करें। ये सारे जिज्ञासु भक्त हैं।

जगती का दुख किस मार्ग से दूर होगा इस विचार से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। जिज्ञासा हमें अनेक मार्गों का निदर्शन करती है। हम ऐसा सोचते हैं—इस मार्ग से दुख का निराकरण होगा या उस मार्ग से? दिख पड़ने वाले अनेक मार्गों में हितकारी मार्ग कौन सा है? कल्याण-प्रद मार्ग कौन सा है? विभिन्न दर्शित मार्गों में सच्चा कौन? यह विचार करने वाला ही अर्थार्थी भक्त है। अर्थार्थी भक्त का अर्थ पैसा माँगने वाला भक्त नही है। अर्थार्थी वह है जो यह देखे कि अर्थ का रहस्य काहे में है? आज की दुनियाँ में बहुत से 'वाद' हैं। गाँधीवाद है, समाजवाद है, साम्राज्यवाद है, पूँजी-पतित्व है, तानाशाही है। इनमें सब के लिए कल्याण-प्रद मार्ग कौन सा है? किस मार्ग को ग्रहण करने से सब का संसार सुखमय बनेगा? सबके जीवन का सुन्दर विकास होगा। सब को विश्रान्ति मिलेगी, ज्ञान लाभ होगा, कला के आनन्द का रस मिलेगा। मन में जब ऐसा विचार उठता है तब हम राह खोजने लगते हैं—कोई एक मार्ग हम चुन लेते हैं। फिर ऐसा प्रतीत होता है कि इस राह से जाने से सार्वजनिक कल्याण है। फिर उस मार्ग को हम अपनाते हैं। जो निश्चित ज्ञान होता

उस ज्ञान को हम स्वीकार करते हैं। इस तरह हम ज्ञानी भक्त होते हैं। ज्ञानी वह जो प्राप्त-ज्ञान को पद-पद पर जीवन मे उतारता है। बुद्ध को जो ज्ञान हुआ, जगत के कल्याण का जो रास्ता उन्हे सूझा उसका उपदेश वे जीवन भर करते रहे। उन्होने कहा मैं बार-बार जन्म लूँगा और जगत को यह ज्ञान देता रहूँगा। महात्माजी को यह सोच था कि गरीबो का दुख कैसे दूर करूँ। चिन्तन करते-करते उन्हें अनेक मार्ग दिखे। परन्तु अन्त मे उन्हें लगा कि चरखा ही उनका तारक परमेश्वर है। उस चरखे को उन्होंने हृदय में धारण किया—उन्होने कहा मेरे ईश्वर का नाम चरखा है। रात-दिन उनका ध्यान चरखे ही मे लगा है। जो ज्ञान प्राप्त हुआ, जो विचार सूझा, सार्वजनिक कल्याण का जो निश्चित मार्ग दृष्टिगोचर हुआ जीवन को उसी ओर लगातार अग्रसर करते जाना ही ज्ञानी-भक्त हो जाना है। और फिर रात-दिन उसी लक्ष्य का ध्यान, उसी का जप, उसीका प्रचार और उसी की जय-जयकार; यह जन्म जैसे उस ध्येय के लिए ही है। और यदि फिर जन्म हुआ वह भी उसी के लिए समर्पित। जिसकी ध्येय के प्रति, प्राप्त-ज्ञान के प्रति ऐसी लगन हो वही ज्ञानी भक्त है।

भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन यह ज्ञानी-भक्त मुझे बहुत प्यारा है। ज्ञानेश्वरी मे एक जगह भगवान ने कहा है— "हे अर्जुन मैंने चार हाथ इसलिए धारण किए हैं कि मै भक्तो को अच्छी तरह भेट सकूँ। भक्तो को निहार सकूँ इसलिए निर्गुण निराकार मै दो दृग-धारी सगुण साकार बन गया। भक्त की पूजा करने के लिए ही हाथ में मै कमल-पुष्प लिए हूँ।" *

---

*"दोवरी दोनी। आलो भुजा घेवोनी। आलिंगावया लागोनी। तया चा देह॥ तया पहवया चे डोहाळे। म्हणून अचक्षूसि मज डोळे। हातींयोनि लीला कमळें। तयासी पुजूं॥"

कितना मधुर भाव है। संसार के मंगल के लिए ऐसी दृष्टिमयी और निर्मल भक्ति लेकर सदैव जूझने वाला जो महात्मा है वह धन्य है।

आठवाँ अध्याय

हमें जो ज्ञान हुआ, जो पवित्र विचार आया, जो निःसंशय ज्ञान दृष्टि-गोचर हुआ उसके प्रकाश में हमेशा क़दम बढ़ाते जाना ही हमारा परम धर्म है। ऐसा करते-करते एक दिन यह शरीर निश्चेष्ट हो गिर पड़ेगा। ऐसा करो कि जिस समय मरण का क्षण आ जावे उस वक्त जीवन का परम विकास हो गया हो। आठवें अध्याय में यह बतलाया गया है कि हम मरें कैसे!

एक बार एक आदमी ने एकनाथजी से कहा 'नाथ, तुम्हारा जीवन कितना सुन्दर, कितना प्रशान्त है। मेरे जीवन में सदा खींचतान, झंझटों की झंझट और काम-क्रोध द्वेष-मत्सर की टरें बनी रहती है। मैं तुम्हारे सरीखा जीवन-यापन कैसे करूँ? इसकी कौन युक्ति है? कौन उपाय है?' नाथ बोले—'ये सब यहीं छोड़। तुझ से एक बात कहता हूँ। तेरी मौत क़रीब आगई है। ऐसा मालूम पड़ता है कि तू आठवें दिन मर जायगा।' वह आदमी घबड़ा गया और तुरन्त ही घर आया। क्षण-क्षण उसे मृत्यु खड़ी दिखाइ देती थी। वह कहने लगा—आठवें दिन ही मर जाने वाला हूँ। ओफ़ आठवें दिन ही! वह पड़ोसियों के पास गया और बोला—'मित्रो! मैं जो तुमसे लड़ा-झगड़ा उसके लिए मुझे क्षमा करो; मैं आठवें दिन मर जाऊँगा।' पत्नी से बोला—'मैंने तुझे बहुत तकलीफ़ें दी है। जो नहीं कहना चाहिए वह कहा। बहुत बार तेरा दिल दुखाया

है। मुझे क्षमा कर; मैं अब मरने वाला हूँ।' उसने अपने बेटो को हृदय से लगाया और उनसे बोला 'मैने तुम्हे बिना कारण ही दण्ड दिया है, ठोका पीटा है, बच्चो! अब मैं जारहा हूँ। आओ तुम्हे प्रेम-पूर्वक अंक में भर लूँ।' गाँव में वह जिन-जिन से लड़ा था, द्वेष-मत्सर के कारण जिन-जिन से झगड़ा था उन सबके पास जाकर उसने क्षमा माँगी। सबसे हाथ जोड़कर कहा 'जो हुआ सो भूल जाओ—मैं आठवें दिन मरने वाला हूँ।' "

आठ दिन बीते। नाथ उस आदमी के घर आए। वह आदमी नाथ के पैरो पड़ बोला—'क्या वह समय आगया?' नाथ ने कहा—'यह तो परमेश्वर ही जानता है; परन्तु तेरे ये आठ दिन कैसे बीते? किन-किन से लड़ा-झगड़ा और कितनो का अपमान किया?' वह बोला ",कहाँ का लड़ना झगड़ना। मुझे तो आँखो के सामने मौत खड़ी दिखती थी। मै तो क्षमा माँगता फिरा 'कि जो हुआ सो भूल जाओ' झगड़ने के लिए समय ही कहाँ था?" नाथ बोले—मीत मेरे, आँखो के सामने जो बात रखकर तूने आठ दिन वर्तन किया मै उस बात को हमेशा दृष्टि में रख बरतता हूँ। एक दिन यह देह जाने वाली है। इसलिए देह के गुलाम न होकर देव के दास बनें। मीठे बोलें, सबसे प्रेम रखें, जो पास हो उसे सभी को बाँटे। इस क्षणभंगुर जीवन द्वारा यदि अन्य जीवनो की पवित्रता और प्रसन्नता दे सकें तो कितने आनन्द की बात होगी।

मरण का अर्थ है जीवन का उत्तर। जीवन कैसे जिया यह मृत्यु समय की परिस्थिति मे दिख पड़ता है। मृत्यु समय के एक क्षण में सारा जीवन प्रतिबिम्बित हो उठता है। जिस प्रकार इत्र के एक बूँद में लाखो फूलो का अर्थ रहता है उसी

मरणकाल के एक पल में अपने जीवन के अपार आचार-विचार असंख्य कायिक, वाचिक व मानसिक कृत्यों का सार समाहित होता है।

हम इस संसार में दूकान खोलकर बैठे हैं। जो दूकानदार है वह रोज रात को उस दिन की सिलक निकालता है। दिन भर तो वह अनेक ऊला-ढाली करता है; परन्तु उस तमाम ऊला-ढाली का सार इस संक्षिप्त परिमाण में निकलता है कि इतना फ़ायदा या इतना नुक़सान। वह रोज़ का जमा खर्च देखता है। माह भर का देखता है। फिर साल भर के बाद कहता है कि इतना लाभ या इतनी हानि हुई। मानलो कि बारह वर्ष दूकान चली तो उस का तमाम परिणाम इस एक छोटे से उत्तर में होता है कि इतना कमाया या इतना गमाया। बारह वर्ष के अथक प्रयत्न का फल इतने में ही होता है कि इतना प्राप्त किया या इतना खोया।

हम सब का जीवन योंही चलता है। जब हम रात को बिछौना पर पौढ़ते हैं तब दिन भर की हुई सैकड़ों बातें याद नहीं रहती। उस दिन की दो-चार महत्व पूर्ण बातें ही आँखों के सामने रह जाती हैं। उस दिन की ऊला-ढाली का उतना ही फल है। एक माह बीतता है। उस माह की दस-पाँच बातें ध्यान में रह जाती हैं। बाकी बिसर जाती हैं। वर्ष पूरा होता है। जब यह सवाल पेश होता है कि इस साल क्या किया? तो दो-चार बातें स्पष्टरूप से दृष्टिगत होती हैं। इस तरह बरस पर बरस बीतते जाते हैं। और मरणोन्मुख व्यक्ति के सामने सम्पूर्ण आयु का सार फल के रूप में उपस्थित होता है। जीवन की यही कमाई है। अंकगणित के विषम भिन्न के प्रश्न में यही बात है। पहिले तो पूर्णांक कितने बढ़ते हैं। परन्तु अन्त में

झटपिट कर शून्य या एक ऐसा संक्षिप्त उत्तर आता है। ऐसा ही हमारे जीवन के सम्बन्ध मे है।

हमें प्रयत्न करना चाहिए कि जीवन का अन्तिम परिणाम धन्य हो उठे। जब हम इस जगती में आए तो रोते आए; परन्तु आसपास के लोग आनन्दित हुए। उन्होने मिठाई बाँटी। परन्तु मरते समय हम आनन्दमय हो उठें और लोग रो उठें। हृदय इस भाव से भर उठे कि जीवन कृतार्थ हो गया और मरण अवसर पर हमारे मुख पर प्रसन्नता खिल उठे। और लोग कहे कि अहा, कितना सुन्दर था इसका जीवन! इस मगलदीप का क्या अब निर्वाण हुआ चाहता है।

तुकारामजी ने कहा है—

स्वर्ण के कलश मे क्यों मदिरा भरी रे! ❀

सोने का शरीर मिला है क्या इस में वासना विकार की मदिरा भरना चाहिए? या मगल-मय जीवन के सुधारस से सम्पूर्ण करना चाहिए? मरणोन्मुखों की विगत जीवन के कल्याण-मय कार्यों की स्मृति से कृतार्थता का अनुभव हो इससे अधिक धन्य और क्या है?

परन्तु यदि प्रत्येक दिन हम सजग न रहें तो मरण स्वर्णिम न बन सकेगा। यदि रोज़ मन चाहा करोगे तो मरते समय रोओगे। सोने से जीवन को मिट्टी कर लोगे। इसलिए हम जागरूक रहे। प्रतिदिन ध्येय को स्मरण रखते हुए वर्तन करें। परमेश्वर जीवन में प्रवेश करने के लिए सर्वत्र खड़ा है। जिस तरह द्वार खोलते ही पवन भीतर प्रवेश करती है, प्रकाश अन्दर आता है उसी तरह हृदय को तनिक उदार करते ही,

---

❀ "सोनिया चा कलश—माजीं भरला सुरा रस"

बुद्धि को थोड़ी विशाल करते ही, दृष्टि को टुक प्रेमिल और पवित्र करते ही परमात्मा तुम्हारे अन्तर में अवतरित होगा। रवीन्द्रनाथ गीतांजलि में एक जगह कहते हैं, 'देव, आयु के किन्हीं क्षणों में दिव्यता का सिक्का था; तुम्हारी छाप थी।' प्रभु तुम्हारे क्षणों पर दिव्यता की मुहर लगाने के लिए खड़ा है। तुम अपना प्रत्येक क्षण प्रभु के सम्मुख ले जाओ। यदि प्रत्येक क्षण ध्येय के लिए समर्पित हुआ तो मरण मंगल बनेगा। लक्ष्य की शाश्वतधारा अनवरत बहने दो। जो आज वही कल। जो इस मास में हो आगामी में—जो इस साल सो आते साल; जो इस जन्म में सो अगले जन्म में। इस तरह जो महान् ध्येय ग्रहण किया उसे आगे लेते हुए लगातार चलते जावें। सूर्य के आसपास घूमने से ग्रह प्रकाश-मय हो जाते हैं। उसी प्रकार ध्येय के चारो ओर मनसा, वाचा कर्मणा प्रदक्षिणा करते हुए हम अपना जीवन उज्ज्वल बनावें।

आठवें अध्याय मे मरण के भव्य रूपक का यही अर्थ है। मृत्यु कैसी हो? उस अवसर पर कैसी परिस्थिति हो कैसी न हो? आठवें अध्याय में इसका मनोहर रूपकात्मक वर्णन है। मृत्यु के समय दक्षिणायन न हो। रात्रि न हो, धूम न हो, कृष्ण पक्ष न हो। इन सब का अर्थ क्या है? दक्षिणायन में दिन छोटे होते हैं और रातें बड़ीं। याने कर्तव्य-कर्म करने के लिए बहुत कम समय—उसी तरह दक्षिणायन मे आकाश मेघों से घिर जाता है—प्रकाश क्षीण हो जाता है। इसका अर्थ है हृदय-गगन का आसक्ति के बादलों से भर जाना। रात से यह मतलब है कि जीवन में कर्म की ज्वाला प्रखरता से नहीं जल रही। कर्तव्य का प्रकाश क्षीण है। धूम का अर्थ है कि निःसंशय ज्ञान नहीं है। सारा वातावरण शंकाओं से पूर्ण है। कृष्ण पक्ष है अर्थात् चन्द्र क्षीण है। चन्द्रमा मन का

देखता है। कृष्ण पक्ष है याने मन का विकास नहीं हुआ है। ऐसी स्थिति में मृत्यु होना दुर्भाग्य पूर्ण है। जिसके अन्तिम समय मे आसक्तियाँ समीप खड़ी हैं, कर्म हीनता की तन्द्रा है, अज्ञान का अन्धकार छाया है, संशय सिर उठाए है, मन पर सकीर्णता का आवरण है उसका जीवन व्यर्थ गया। इसके विपरीत, वह मृत्यु धन्य है जो दिन मे हो, प्रकाश में हो, जो कर्म की धंकधकती ज्वाला लिए हो, जो उत्तरायण में याने हृदय-नभ की निर्मलता में हो, कर्म से ओत-प्रोत वड़े दिनो में जो मन की अनासक्त अवस्था मे हो, जो शुक्ल पक्ष में अर्थात् मन की विकासोन्मुख दशा में हो। परम महान् है यह मरण! यह मरण ही जीवन है!!

अथक प्रयत्न करना चाहिए कि हमे ऐसी मृत्यु मिले। आसक्ति, आलस्य, वासना-विकार इन सभी पर विजय प्राप्त करना चाहिए। कृष्ण की बाँसुरी शरद् ऋतु मे वजी थी—जव आकाश निर्मल हो, चाँदनी छिटक रही हो, फूलो की सुगन्ध गमक रही हो तब बाँसुरी बज उठती है। हमारे जीवन की मधुर मुरली तभी बजेगी जब हम सारे मोह जीत लेंगे—जब हम बिना रुके अनासक्ति पूर्वक, निष्काम बुद्धि से, स्वधर्मानुसार जनता जनार्दन की सेवा करते ही रहेंगे। एक बार महात्माजी बोले—'मुझे और कोई आसक्ति तो नहीं है पर इस चरखे की चिन्ता है। ऐसा तो नही होगा कि मृत्यु-समय मे राम नाम के बदले ओठो पर चरखे की चिन्ता प्रकट हो उठे। चरखा-चरखा कहते ही तो नहीं मरूँगा—चरखे मे ही ये कहीं अँतड़ियाँ गुँथकर न रह जायगीं?' जमनालालजी ने कहा 'तुम चरखे की चिन्ता न करो, वह मरने वाला नहीं है।'

ऐसा है महात्माजी का जीवन। रात-दिन कर्म की ज्वाला जल रही है। धूम नहीं है। आसक्ति नहीं है। सर्वत्र

निर्मल प्रकाश है। १९३१ में इरविन साहब से बातचीत करते करते रात के दो बज गए। इतनी रात को घर आने पर, आज सूत नहीं कात सका, इसलिए चरखा हाथ में लेकर सूत कातने बैठ गए—ऐसे हैं महात्माजी। उनका प्रति क्षण सेवा में जाता है। निर्मल, निरपेक्ष, अनासक्त है उनकी सेवा !

हम भी नम्रता-पूर्वक अपने जीवन को कर्म की ज्वाला से प्रज्वलित करने का प्रयत्न करें। जीवन को सोने का बनाएँ। इस मिट्टी के शरीर को अमरता प्रदान करें। वह अन्तिम दिन सुन्दर हो, मरण धन्य हो अतएव प्रत्येक बीतने वाले दिन को जाग्रत जियें। यही उद्धार का अन्तिम उपाय है।

नवाँ अध्याय

नवम अध्याय अत्यन्त पवित्र अध्याय है। गंगा का सारा ही प्रवाह पवित्र है। उद्गम से लगाकर मुख तक सम्पूर्ण प्रवाह पवित्र है। फिर भी हरिद्वार, काशी, प्रयाग आदि हमने तीर्थ मान लिए हैं। वहाँ पर गंगा और अधिक पवित्र। वैसे ही गीता के सभी अध्याय पवित्र हैं। परन्तु उनमें भी नौवाँ, बारहवाँ, पन्द्रहवाँ अध्याय अधिक पवित्र। नवम अध्याय का जप करते हुए अनेकों सन्तों ने समाधि ली। कहते हैं कि—ज्ञानेश्वर महाराज नवम अध्याय का पाठ करते हुए ही समाधिस्थ हुए। ज्ञानेश्वरी में श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं—'वेदों को भी जैसे नवम अध्याय का डर है।' यह अध्याय इतना महत्व-पूर्ण है, इतना पवित्र है।

इस अध्याय का इतना महत्व क्यों है ? इसलिए कि इसमें अनुभवगम्य राजमार्ग का दिग्दर्शन किया गया है।

भगवान कहते हैं—'हे अर्जुन तुझे ऐसा धर्म देता हूँ जिसका तुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो।' यह बात केवल कहने की नहीं है प्रत्यक्ष अनुभव की है। हमें तुम्हे इसका अनुभव हो सकता है।

ऐसी कौनसी बात इस अध्याय में कही गई है? देव कहते हैं—'अर्जुन जो भी काम तू करे उसे ईश्वरार्पण बुद्धि से कर।' इसका क्या अर्थ है? हम जो-जो काम करते हैं उसका सम्बन्ध जनता से होता है। वे काम जनता-जनार्दन को समर्पित हैं। जिन-जिन से हमारा कार्य का सम्पर्क हो उनको ईश्वर मानना ही ईश्वरार्पण बुद्धि से कार्य करना है।

भक्त अपने धर्म-कर्म इसी दृष्टि से करते हैं। गोरा कुँभार मटकी बनाता था। मटकियाँ अच्छी बनें इसलिए मिट्टी को वह कितना रूँधता। माटी रूँधते-रूँधते वह तन्मय हो जाता। उसका बच्चा माटी में रूँध गया इसका भान भी उसे नहीं रहा। माटी रूँधते समय उसके अन्तश्चक्षु मे मानो परमेश्वर थे। ये कहाँ के परमेश्वर? मटकियों को खरीदने वाले लोग ही उसके परमेश्वर—गोरा कुँभार जैसे दूसरे परमेश्वर को जानता ही नहीं। मेरे नारायण मटकी खरीदने आएँगे, क्या मैं उन्हें धोखा दूँ? जल्दी ही फूट जाने वाले मटके उन्हें बेचूँ? मैं तो उन्हे ऐसे पक्के घड़े दूँगा कि वे उनके लड़के बच्चों तक के काम में आवें। इसी भाव से गोरा कुँभार मटके गढ़ता था।

कबीर इसी भावना से कपड़े बिनता था। मेरे भगवान वस्त्र खरीदने आवेंगे। उनको क्या मैं भद्देस कपड़े पहिनाऊँ? नहीं! मैं तो इन वस्त्रों को अच्छे बिनूँगा। फिकर से बिनूँगा।

साँवता माली इसी भाव से भाजी बेचने लाता—धोकर छाँटकर वह भाजी लाता। भाजी लेने आनेवाले ग्राहक ही जैसे उसके भगवान थे।

इसी प्रकार हम भी सर्वत्र परमेश्वर देखें। ईश्वर को खोजने के लिए दूर नहीं जाना है। वह तो हमारे आस-पास सर्वत्र है। हम काशी और रामेश्वर जाते हैं; परन्तु ईश्वर क्या केवल वहाँ ही है? बीच में क्या सारा श्मशान है? एकनाथजी का लड़का काशी की काँवर लेकर रामेश्वर को चढ़ाने के लिए जा रहा था। परन्तु श्री एकनाथ ने रास्ते में उस गंगाजल से प्यासे गर्दभ की प्यास बुझाई। लड़का क्रुद्ध हुआ; परन्तु श्री रामेश्वर स्वप्न में आए और बोले—'गधे को पान कराई गई गंगा मुझे मिल चुकी भाई।'

टॉल्सटाय ने भी एक ऐसा ही सुन्दर प्रसंग लिखा है—दो मित्र तीर्थयात्रा के लिए निकले। रास्ते में अकाल पीड़ित एक गाँव मिला। एक मित्र तो अकाल पीड़ितों की सेवा में ही लग गया और पैसे खर्च हो जाने पर यात्रा को न जाकर घर लौट आया। दूसरे मित्र ने तीर्थस्थान पर पहुँचकर देखा कि उसका मित्र देवता के समीप ही बैठा है। दुष्काल में ग्रसित पीड़ितों को जो सेवा समर्पित की गई वह ईश्वर को पहुँच गई। अतएव तीर्थस्थान पर न पहुँचकर भी दूसरा मित्र ईश्वर के अधिक समीप पहुँच गया।

हम जहाँ देखें वहाँ परमेश्वर ही है। परन्तु हम अन्धे हैं। भगवान् अत्यन्त खेद से कहते हैं—

'अव जानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्'

हम झाड़ झंखाड़ में, पत्थर पाषाण में, भूत-प्रेत में ईश्वर देखते-फिरते हैं; परन्तु मानव के अन्तर में स्थित ईश्वर हमें नहीं दिखता। हमें तो चार मुँह का आठ हाथ का देवता चाहिए। ऐसा देवता चाहिए कि जो मनुष्य से किसी प्रकार भिन्न हो। हमारे पड़ोसी में मानव के रूप में खड़ा परमेश्वर

हमें नहीं दिखता। हम मानव से झगड़ते हैं, मानव को दास बनाते हैं, मानव का ख़ून बहाते हैं और देवता की पूजा किया चाहते हैं। ईश्वर तुम्हारे इस कृत्य से स्तम्भित है। अरे, पहिले मनुष्य में बैठे हुए ईश्वर को पहिचानो। यह बोलता डोलता ईश्वर है इसका स्वरूप देखो—और देखो कि इसे क्या चाहिए क्या न चाहिए। पत्थर के देवता को क्या चाहिए यह हमने तै कर रखा है। गणेश को मोदक पसन्द है। विनोबा को माखन और खँडोबा को गरी चाहिए; परन्तु क्या हम कभी सोचते हैं कि मनुष्य को किस बात की आवश्यकता है। अपने सामने यह दो हाथ का मानव रूपी देव खड़ा है उसके पेट में अन्न नहीं। उसकी देह पर वस्त्र नहीं है। उसकी पूजा के लिए क्या कभी हम दौड़ते हैं? ऐसा कहा है कि देवता की प्रदक्षिणा करना चाहिए—एक प्रदक्षिणा करके फिर देवता का रूप निहारना चाहिए ऐसा करने से देवता का स्वरूप अन्तर मे भरता है। पर यह देवता है कहाँ? लाखो गाँव खेड़ों में यह देवता मौजूद है। इन ग्रामो की प्रदक्षिणा करो। वहाँ दरिद्र नारायण का स्वरूप तुम्हारे ध्यान मे आगया। उनकी क्या दशा है यह तुम्हे मालूम पड़ेगा—फिर तुम उनकी सेवा के लिए निकल पड़ोगे।

ऐसा यह नक़द भक्ति धर्म है। प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है यह धर्म। अपने भाइयो की सेवा करो। उनकी सूखी हड्डियो पर तनिक मास चढ़ेगा। तुम भी सुखी होगे। यदि हम यह सोचकर कर्त्तव्य कर्म करें कि हमारे आसपास के लोग ही ईश्वर स्वरूप हैं तो वे काम कितने सुन्दर हो उठेंगे। उन कर्मों में एक प्रकार की तेजस्विता आयगी। हमारा कोई सामान्य मित्र आनेवाला होता है तो हम सभी कुछ कितनी चिन्तापूर्वक कितनी लगन से करते हैं। और यदि हम यह माने कि यह

साक्षात् देवता ही है तो हम कितनी दक्षता से, अपना कितना हृदय उड़ेलकर कार्य करेंगे। कलकत्ते मे महाराष्ट्रीय एक संन्यासिनी थी। उसने कन्याओं की एक शाला चला रखी थी। एक बार विवेकानन्द उससे मिलने गए। उन्होंने उससे पूछा—'मा, क्या कर रही हो?' वह तपस्विनी बोली—'इन देवियोंकी सेवा कर रही हूँ' वह संन्यासिनी उन बालिकाओं के प्रति कितना आदर और कितनी भक्ति रखती थी! शिक्षक को बालकों के प्रति यही दृष्टि रखना चाहिए। उनसे यह न कहना चाहिए कि 'तुम पत्थर हो, गधे हो'। सम्मुख उपस्थित बालक में दिव्यता है, वह प्रकट हो जाय तदर्थ ही उसे प्रयत्न करना है। यदि शिक्षक इस भाव से वर्तन करे कि बालकों की अपनी दिव्यता स्वयं प्रकट हो उठे—इसलिए ही वह सहायता दे रहा है तो अध्यापन कर्म कितना भव्य हो उठे!

मैं एक दिन शहर गया था। वहाँ गवर्नर आने वाले थे। नालियाँ साफ की जा रही थीं। झाड़-बुहार हो रही थी। गवर्नर आने के पहिले क्या वहाँ आदमी ही न रहते थे; परन्तु म्यूनिसिपेलिटी के अध्यक्ष और सभासदों को वह गवर्नर ही देव प्रतीत हुआ। उसके आगमन पर ही स्वच्छता की जा रही थी। शेष पचास हज़ार मनुष्यों के प्राणों की जैसे कुछ क़ीमत ही न हो। हमारे नगर के तमाम निवासी देव स्वरूप हैं इस भाव से यदि म्यूनिसिपेलिटी के सदस्य काम करें तो कमेटी या बोर्ड की कार्यवाही कितनी निराली हो। नवम अध्याय इस महान् मानव-धर्म की बात कहता है। नवम अध्याय यह सन्देश देता है कि ईश्वर को सर्वत्र देखो अपने कर्म-मय पुष्पों से उसकी पूजा करो। मानव में देवता के दर्शन करो और उसे सुखी बनाने के लिए उठ खड़े हो।

और जो हर जगह ईश्वर के दर्शन करने लगा वह क्या किसी को तुच्छ या हीन समझेगा ? किसी को अछूत कहकर क्या वह उसे दुरदुरा सकेगा ? ज्ञानेश्वर कहते हैं मेरे भक्त को कभी जाति भेद दिखता ही नही है—

वहाँ व्यक्ति और जाति सब होते शून्याकार । ❀

जाति भेद, व्यक्ति भेद, इन नामांको का आकार शून्य हो जाता है। जगह-जगह मंगलमय परमात्मा ही दिखाई देता है।

कोई भी कार्य हो यदि ईश्वरार्पण भाव से करें तो हम सभी मुक्त हो जावें। नवम अध्याय सबके लिए मोक्ष का द्वार खोलता है।

" स्त्रियो वैश्या तथा शूद्रा सोऽपियान्ति परांगतिम् "

स्त्री हो, वैश्य हो, शूद्र हो, कोई हो अपने-अपने सेवा कर्म से सभी को मोक्ष मिलेगा। जो स्त्री पति को ही परमेश्वर मानती है, उसके सुख-दुख में अपने सुख-दुख लेखती है, पति की इच्छा ही को अपनी इच्छा बनाती है यदि उसे ही मुक्ति न मिलेगी तो और किसे मिलेगी ?

प्रश्न इतना ही है कि जो काम तुम करते हो वह किस भावना से करते हो ? जनता जनार्दन के प्रति, समष्टि-रूपी देवता के प्रति अर्पित करने के भावना से प्रेरित होकर या स्वार्थ से चंचल होकर ? महत्व इसी बात का है। नवम अध्याय अत्यन्त महान् दृष्टि देता है। यदि वह प्राप्त हो गई तो जीवन में क्रान्ति हो उठेगी। कबीर ने कहा है—

"गुरु कृपाजन पायो पायो मैंने भाई।
राम बिना कछु जानत नाहीं ॥ "

❀ ' तेथे जाती व्यक्ति पडे बिदुलें '

'अन्दर राम बाहिर राम, जहँ देखो वह राम ही राम'
फिर सर्वत्र प्रभु के दर्शन होंगे। उस प्रभु की सेवा करने के लिए तुम दौड़ोगे। हरा-हरा तृन संकुल देखकर कवि ह्विटमेन को ऐसा लगा कि वह प्रभु के हाथ का रूमाल है। शेक्सपियर कहता है कि तब तुम 'पाषाणों के प्रवचन सुन सकोगे, निर्झरों की वाणी समझ सकोगे।' एक बार यह दृष्टि प्राप्त हो जाना चाहिए—सर्वत्र मंगल दर्शन करने की दृष्टि—प्रभु का साक्षात्कार तो सर्वत्र है ही।

हम प्रयत्न करें कि हमें ऐसी महान् दृष्टि मिल जावे। जिन जिन की सेवा करने हम जाव उन्हे देव स्वरूप समझकर सेवा करें। फिर ऊब नही आवेगी—सेवा मे रस बरसेगा—जीवन एक प्रकार की मुक्त अवस्था प्राप्त कर लेगा—हृदय मे अपार आनन्द भर उठेगा—यह यदि मोक्ष नहीं है तो और क्या है ?

दसवाँ अध्याय

नवम अध्याय यह कहता है सब जगह प्रभु रूप देखो।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामि प्रयतात्मनः॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

नौवें अध्याय का यह सन्देश एकदम कार्य-रूप में कैसे परिणत करें ? सारे कार्य ईश्वरार्पण बुद्धि से करना कैसे सीखें ? हमारा हजारों आदमियों से कार्य-सम्बन्ध आता है। जिन-जिन से कर्म सम्पर्क होता है वे देव स्वरूप हैं, ऐसा क्यों एकदम प्रतीत होगा ?

एकदम यह दृष्टि प्राप्त नहीं होगी। बालक जैसे धीरे-धीरे सीखता है वैसे ही हमे सीखना चाहिए। इस दशम अध्याय में भगवान कुशल शिक्षक की तरह मानो हमें सबक देते हैं। छोटे बालक को पहिले हम सहज अक्षर सिखाते हैं। उसकी पट्टी पर सहज और बड़ा-बड़ा अक्षर लिख देते है। बड़ा-सा 'ग' बनाते हैं और उससे कहते हैं यह गणेश का 'ग' है। बड़ा सा 'म' बनाकर उसे सिखाते हैं कि यह मन्दिर का 'म' है। पहिले 'ग म भ न' आदि सरल वर्ण सिखाते हैं। फिर 'स ष्' आदि तनिक कठिन वर्ण। फिर सयुक्ताक्षर। इतना ही नहीं यह भी सिखाना पड़ता है कि जो बड़ा-सा 'ग' है वही छोटा भी बनता है। यह भी समझाना ही पड़ता है कि 'ग' बड़ा हो या छोटा दोनों एक ही हैं। नहीं तो जमांई बाबू सरीखा हाल होगा। जमाई बाबू पत्र मे छोटी लिखी गई 'श्री' देखकर रोने लगे। कहने लगे 'मेरी पट्टी पर तो कितनी बड़ी 'श्री' थी, यह छोटी क्यो हो गई?' उस छोटी और बड़ी 'श्री' मे कोई अन्तर नहीं है। दोनो मे एक ही अर्थ भरा है। छोटे बालक इसी प्रकार पढ़ाए जाते हैं। पहिले सहज और बड़े रूप मे वर्ण सिखाते हैं फिर तनिक कठिन अक्षर, फिर उन्हीं अक्षरो के छोटे रूप, फिर उन्ही के संयुक्ताक्षर। इतना हो जाने पर उस बालक की साहित्य में गति हो जाती है। वह पढ़ने लगता है। काव्य का रसास्वादन करने लगता है।

हमे सृष्टि के इस विशाल ग्रंथ को इसी रीति से ही पढ़ना सीखना चाहिए। सृष्टि में सर्वत्र ईश्वर विद्यमान है। उसके रूप को पहिचानना-सीखना है। परन्तु बिलकुल छोटे अक्षर पहिचानना पहिले नहीं आ जायगा। संयुक्ताक्षरों पर ध्यान नहीं जमेगा। इसलिए भगवान् अर्जुन को सृष्टि के बड़े से अक्षरो का सबक देते हैं। वे कहते हैं, हे अर्जुन, सर्वत्र प्रभु के

दर्शन करना तुम्हें सहसा नहीं आ जायगा। परन्तु सन्तों की ओर तो देखते बनेगा न? जो सन्त रात-दिन परहित के लिए छीजते फिरते हैं, जो निन्दा-स्तुति से विचलित नहीं होते, जिनको मृत्यु का भय नहीं है, क्या इनमें अनन्त की मूर्ति के दर्शन नहीं कर सकोगे? सन्त शब्द सरल है। यह बड़ा सा शब्द भी है कि आँखों में तुरन्त समा जायगा। इसे उठा लो, इसका पठन करो और मनन करो। और तुम्हारी जन्मदात्री मा? 'मातृदेवो भव' यह वेद की आज्ञा है। मा के वात्सल्य में ही हम परमात्मा की परम करुणा की कल्पना कर सकेंगे। मा को चैन ही नही है। वह अपने बच्चे के लिए अपनी हड्डियाँ क्या तोड़ती है? किसने भर दी उसमें इतनी माया! कितना प्रेम है उसका बच्चे पर! उसे ज़रा दुख दर्द हुआ कि बावली हुई फिरती है—पैरों का पालना बनाती है और नयनों में दीपक सँजोती है। माता ऐसी प्रेम-मयी और स्नेह-मयी है। फ्रेंच भाषा मे एक प्रसंग है। एक माता थी। उसका बेटा व्यभिचारी निकल गया। वह एक वेश्या के यहाँ जाया किया। अपना सारा घर खाली कर उसने वेश्या का घर भर दिया। तो भी वेश्या को उसके प्रेम पर प्रतीति न हुई। वह उससे बोला 'अब मैं क्या करूँ कि जिससे तुझे मेरे प्रेम पर विश्वास हो जाय?' वह बोली 'मुझे अपनी मा का कलेजा निकालकर ला दो।' उसने मा का कलेजा निकाला; उसे एक थाली मे रख जल्दी-जल्दी चला। रास्ते में ठोकर लगी और गिर पड़ा हाथ की थाली भी गिर पड़ी। परन्तु माँ के कलेजे से आवाज़ आई— 'बेटा, तुझे कहीं चोट तो नही आई? ऐसी निरपेक्ष प्रेम की मूर्ति है माता! माता में प्रभु के दर्शन करना सीखो! ये बड़े-बड़े, सहज-सहज वर्ण है। और वह तुम्हारा पशुत्व दूर करने वाली, मनुजता की देन देनेवाली गुरु-माता! और वे आचार्य

उनमें प्रभु का रूप देखना सीखो! और वे छोटे-छोटे बालक निर्दोष और सरल प्रभु के संगीत की गंजन! इनमे देव-दर्शन करो। छोटे बालको को कितनी जल्दी ईश्वर मिल बैठा—ध्रुव, प्रह्लाद, सनक, सनंदन, शुक्राचार्य ये सभी बालक ही तो थे। उन्होने क्षण भर मे प्रभु पा लिया। बालकों में देवता का स्वरूप समझो। और मानवेतर सृष्टि के स्पष्ट व र्णपहिचानो। वह देखो भव्य हिमालय कैसा खड़ा है! जैसे ज्ञान और वैराग्य की शुभ्र मूर्ति हो। इतनी-सी चंचलता उसे छू नहीं गई। जैसे मूर्तिमयी स्थिर निष्ठा ही खड़ी है। उस हिमालय में परमेश्वर देखो—और वह गंगा!

> *"जय गंगे आनन्द तरंगे कल रवे।*
> *अमल अंचले पुण्य-जले दिव सम्भवे*
> *सरस रहे यह भरत-भूमि तुम से सदा*
> *हम सब की तुम एक चलाचल सम्पदा।"* ❀

सारे भूप्रदेश को हरित श्यामल करते जाने वाली है गंगा। नदियों का प्रवाह देखकर रवीन्द्रनाथ का हृदय तरंगित हो उठता था। वे कहते हैं—

'जाह्नवी जमुना विगलित करुणा'

गंगा-यमुना ही ईश्वर की प्रवहमान करुणा है—ऐसी महान् नदियों में प्रभु का स्वरूप देखो।

और वह ऊपर तना आकाश, जिसमे मेघ आते हैं चले जाते हैं, धूल उड़ती है, कुहा-सा छाता है, घन-पंक्ति घिर आती है परन्तु वह नील नभ पृष्ठभूमि बना खड़ा है। इतना-सा भी मैल अपने में लगने नही देता। इस गगनांगन में ईश्वर को देखो।

❀ पोषित तीरीं चे पादप—फेडी न जगाचे पाप ताप
जाय जैसे आप—जाह्नवी चे

और यह तरंगमान निस्सीम सागर? ज्वार हो या भाटा वह लगातार हुंकार भरता रहता है। मानो 'मामनुस्मर युद्धयच' की घोषणा करता है। जैसे अपनी धीर गम्भीर वाणी मे आदेश देता है 'उत्थान हो कि पतन हो, तुम सतत कर्म करते रहो।' मानो रात-दिन ओम् ओम् की गर्जना करता रहता है। पानी बरसे न बरसे, वह सदा तरंगमय रहता है। सर्व प्रवाहों को अन्तर में समेटता है। वह कभी शान्त है कभी अत्यन्त भयंकर है। ऐसे समुद्र में ईश्वर को पहिचानो।

अँग्रेज कवि बाइरन समुद्र को देखकर उल्लसित होता था, नाच उठता था। वह कहता है—'रे समुद्र तू गर्जन किये जा, अपनी तरंग संकुल कल्लोल होने दे, तू गर्जन करते आ। हे गभीर, तू मानो अदृश्य परमेश्वर का सिंहासन ही है।' ऐसे महान् सिन्धु में यदि हम परमेश्वर का निवास न देखें तो और कहाँ देखें?

और वह कोकिला? वसन्त-ऋतु के आगमन के साथ ही कुहू कुहू करने लगती है। मानो पूछती है कि आतप में द्रुमों को नए पल्लवों से ढँक देने वाला प्रभु कहाँ है? जैसे वह अरुणोदय से ही उपनिषद् का गान करने लगती है। उस कोकिला में स्थित प्रभु के दर्शन करो। और वह सुन्दर शिखी है कि जिसके फैले हुए पक्ष के सामने शाहजहाँ का सिंहासन फीका पड़ जावे। मेघ गर्जन पर नर्त्तन करने वाले, केका ध्वनि करने वाले, सरस्वती के वाहन इस मयूर मे देवत्व देखो। और गौ-माता? गाय तो करुणा की कविता ही है—कितनी कोमल, कितनी प्रेमिल, कितनी निर्मल! हमें दूध देती है खेती के लिए बैलों को जन्म देती है। इस मा के हृदय में स्थित परमेश्वर के दर्शन करो।

और हे अर्जुन ये मैंने तुझे सरल वर्ण बताए। परन्तु कठिन वर्ण और संयुक्त वर्ण भी तुझे सीखने हैं। नहीं तो इस विश्वग्रन्थ का पठन सम्भव नहीं है। सन्तों में परमेश्वर के दर्शन करना तो सीख लोगे परन्तु रावण में भी तुझे ईश्वर देखना सीखना है। रावण जोड़ाक्षर है। गाय में देवत्व पहिचान सकोगे पर व्याघ्र की भीषणता में भी प्रभु का रूप देखना सीखो। सुमन में देव दर्शन सुलभ है पर तेजस्वी सर्प में भी प्रभु का धाम समझो—एक बार पाव्हारी बाबा को साँप ने काटा—परन्तु वे बोले 'प्रभु आकर चूम गया।' उन्हें सर्प में प्रेमिल ईश्वर मिल गया। इन संयुक्ताक्षरों के बाद छोटे वर्ण सीखना चाहिए। गंगा में ईश्वर दिखा पर वही हमें ओस-कन में भी दिख पड़ना चाहिए। अपने भीतर आकाश समाहित देखने वाले, असंख्य पक्षियों को आश्रय देने वाले, वटवृक्ष में देवत्व देख पाना सहज है परन्तु लघुतम तृन में भी ईश्वर की विभा देख सकना हमें सीखना चाहिए।

इस प्रकार हमें सीखते जाना चाहिए और हमें सर्वत्र परमेश्वर दिख पड़ेगा। सभी कुछ जैसे मधुर हो उस वैदिक मंत्र में ऋषि ने कहा है न ?

"मधुवाता ऋतायते, मधुक्षरन्ति सिन्धवः
माध्वीर्गावो भवन्तु नः
मधु नक्तमुतोषसि, मधुमत्पार्थिवं रजः।"

सब कुछ मधुरिम, पवन मधुरिम, तारक मधुरिम; दिवस मधुरिम रजनी मधुरिम; नदियाँ मधुरिम, गायें मधुरिम, मिट्टी का वह कन भी मधुरिम। जिस मिट्टी के कन से कुसुमों को रूप रस गंध प्राप्त होती है फलों को रस और रंग मिलते हैं क्या वह मृत्तिका-कन सुन्दर नहीं ?

हम इस तरह सीखते जावें; विश्वग्रन्थ पढ़ते जावें। रवीन्द्रनाथ कहते हैं 'परमेश्वर, फूलो के रूप में, तारकों के रूप में, गगन-प्रसरित अनन्त रंगों के रूप में, पत्तियों के रूप में, पवन झकोरो के रूप में, क्षण-क्षण में और पग-पग पर हमे सन्देश भेजता है। पत्र भेजता है। परन्तु इन्हें पढ़ने वाला कौन है?

जो इन पत्रों को पढ़ सके वही सच्चा ज्ञानी है। वही सच्चा सीखा-पढ़ा है। शेष तो सब तोता रटंत हैं। ज्ञान का मिथ्या भार लदा है। हमे तो वही मंगलमय ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। विश्व-ग्रन्थ से सर्वत्र प्रभु रूप दर्शन करना सीखकर मुक्त होना चाहिए। आनन्द सिन्धु में मग्न हो जाना चाहिए।

ग्यारहवाँ अध्याय

दशम अध्याय हमें सन्देश देता है कि सर्वत्र ईश्वर देखो। परन्तु अर्जुन ने प्रश्न किया कि 'प्रभु, यदि सर्वत्र तू ही है तो तेरा रूप कैसे दृष्टिगोचर होगा? मुझे इसकी कल्पना ही नहीं होती। तू चराचर मे व्याप्त होकर समा रहा है, तो मुझे इस अपने विराट् स्वरूप के दर्शन दे, मेरा मनोरथ पूर्ण कर' और प्रभु ने अपने विराट् विश्व-रूप के दर्शन कराए। अर्जुन को कन-कन में समाविशित परमेश्वर दिखाई दिया। वह अत्यन्त तेजोमय रूप देखकर अर्जुन घबरा गया। वह बोल उठा समेट लो, समेट लो, प्रभु यह अपना विश्व-रूप समेट लो। मुझ से यह देखते ही नहीं बनता, मेरी आँखे झप जाती है। तेरा सीधा-साधा रूप ही मेरे लिए पर्याप्त है।

आदमी को अपने पास स्थित दो हाथ का परमेश्वर पटता नहीं; और यह अनन्त करों वाला विराट् परमेश्वर पचता

नहीं। अर्जुन विवेकशील था तो आखिर उसे दो हाथ का परमेश्वर पट गया। उसके रथ पर चार हाथ वाले श्रीकृष्ण थे पर उसे दो ही हाथ का परमेश्वर पसन्द आ सकता था। हमारे लिए मानव देह में स्थित परमेश्वर पर्याप्त है। हम मानव की सेवा करें—मनुष्य रूपी नारायण की उपासना करें, उसे सुखी बनावें।

इस ग्यारहवें अध्याय में एक ही स्वर गूँज रहा है। भक्तों को यह अध्याय अत्यन्त आनन्द-दायक है। लोकमान्य का गीता-रहस्य जब प्रकाशित हुआ तब महर्षि अण्णा साहब पटवर्धन कहने लगे। 'बाल ने ग्यारहवें अध्याय के सम्बन्ध में क्या लिखा है भला—वह पढ़ना चाहता हूँ' यह ग्यारहवाँ अध्याय जैसे स्तोत्र रूप है। विराट् का भव्य स्तोत्र। ज्ञानेश्वरी में इस प्रसंग का बहुत मधुर वर्णन है। अर्जुन कह उठता है 'देव नमस्कार, नमस्कार, इस ओर नमस्कार, उस ओर नमस्कार' मानो वह पुनः पुनः नमस्कार करता ही रह गया। वह जहाँ देखे वहाँ प्रभु का रूप—अर्जुन विनम्र-भाव से हाथ जोड़े केवल खड़ा ही रह गया। इस स्तुति रूपी अध्याय का केवल एक ही सार है। वह यह कि सब कुछ करने वाला परमेश्वर है। हमें किसी बात का तनिक भी अहंकार न करना चाहिए। हमीं सब कुछ करने वाले है यह गर्व कोई न करे। यह हास्यास्पद है। हम विश्व-शक्ति के हाथ की कठपुतली हैं। वही विश्व-शक्ति हमे नचा रही है। अँग्रेज कवि मिल्टन ने एक जगह कहा है। 'मैं अन्धा हो गया तो क्या इससे ईश्वर का कार्य रुक जाने वाला है; मैं ऐसा अहंकार न करूँ। ईश्वर का काम करने के लिए सहस्रों तैयार हैं।' बात सच्ची है। हम तो निमित्त मात्र हैं।

विश्व की अनेक परिस्थितियों, असंख्य प्रवाहो, अपार शक्तियों और अनन्त गतियो से हम गतिमान् हैं। जो हमारे

मन में आता है वही थोड़े ही होता है। जगत में भिन्न-भिन्न इच्छाओ, प्रयत्नो और शक्तियो के परस्पर घात प्रतिघात से कोई एक परिणाम निष्पन्न होता है। हम अपनी ओर से प्रयत्न करते रहें। पर मन में खेद न लावें। करने-कराने वाला अन्त में वह विश्वम्भर है। उसकी विश्वात्मक गति और शक्ति जो आकार धारण करेगी वही सच्चा। उसे जिस रूप की आवश्यकता होगी। अन्त में वही निर्मित होगा। हम केवल निमित्त मात्र होकर नम्रता-पूर्वक कार्य करते रहे। प्रभु के हाथ के साधन हो रहे, परन्तु ईश्वर के साधन बनना भी सरल बात नहीं है। वह परम महान् हमें अपना ले इसके लिए हमें अपना जीवन निर्मल बनाना चाहिए। अपना जीवन तेजस्वी बनाना चाहिए। जीवन पर अच्छी धार धर रखना चाहिए। उसे संयम की अग्नि में डालकर तपा कर खरा कर रखना चाहिए। यदि कोई महत्पुरुष हमसे चाकू माँग बैठता है तो हम देखते हैं कि उसमें ठीक धार है कि नहीं। कारकून को तहसीलदार के हाथों मोथला चाकू देने में शरम लगेगी। किसी का अच्छा चाकू लाकर वह उसे देगा। इसी तरह यदि प्रभु ने हमारे जीवन की माँग की तो वह हम उसे तभी अर्पित कर सकेंगे जब कि वह निर्मल और तेजवान् हो।

एक पर्शियन कवि ने कहा है—मृत्तिके! क्या तू मेरे अधरों को चूमना चाहती है? तो पहिले भट्टी मे भुँजकर प्याले का आकार ग्रहण कर। फिर वह प्याला मेरे ओठों को छू सकेगा। हे काठ के टुकड़े, क्या तू मेरे केशकलाप का स्पर्श करना चाहता है? तो पहिले चिर कर, फट कर, कँगूरे ग्रहण कर, कंघी बन, तभी मेरे केशों पर फिरना, केशों के साथ खेलना, सम्भव हो सकेगा।

त्याग और तपस्या से मूल्य बढ़ता है। पहिले हम आँवले को टोचते हैं। तब उसका मुरब्बा बनता है और तभी वह काँच की सुन्दर बरनी में स्थान पाता है। उसकी कीमत बढ़ जाती है। रास्ते पर पड़ा हुआ वह तुच्छ आँवला अन्त में सीके पर जा बैठता है। सारे जीवन में यही नियम दिख पड़ेगा।

प्रभु के हाथ के साधन बनने के लिए हमे तपस्या करनी चाहिए, निरहंकारी बनना चाहिए। यदि ऐसा तुम्हे लगे कि हमारी तुम्हारी जीवन की बाँसुरी में दैवी संगीत की गुंजन हो तो उसे अंतर्बाह्य निर्मल कर रखो। तब तो उसमे दिव्य वायु प्रवेश करेगी और संगीत गूँज उठेगा। परन्तु यदि अपनी जीवन बाँसुरी का द्वार हमने अपने अहंकार तथा क्षुद्र, स्वार्थमय, वासना-विकारों से अवरुद्ध कर रखा है तो प्रभु उसमें पवन कैसे फूँक सकेंगे—संगीत निर्माण कैसे हो सकेगा।

> 'यह जीवन कुछ ऐसा कर दो—
> उस हरित बाँस की वंसी सा
> रे सीधा और सरल कर दो
> जिसमें अपने स्वर बोल सको
> रे गीत बने तुम डोल सको!'

जिसे प्रभु के सामने यह निवेदन करना है उसे अपनी जीवन बाँसुरी निर्मल रखना चाहिए। इसके लिए नम्रता ही एक साधन है। नम्रता ही ज्ञान का आरम्भ है नम्रता न हो तो जीवन का विकास सम्भव नही। 'समर्थ' ने एक जगह कहा है—

'नम्रता न छोड़ो'

हमें यह भावना कभी छोड़ना नहीं चाहिए कि हम नम्र हैं। बावली मे बहुत जल है; परन्तु उसमे छोड़ी गई गागर यदि झुकेगी नही तो उसमें पानी कैसे भरेगा? वह अहंकार से

नाचती ही रहेगी तो रीती की रीती रहेगी। प्रभु का संगीत सारे विश्व में गूँज रहा है। हमारे तुम्हारे जीवन में यह यह गूँज परन्तु यदि हम झुकें तो, नम्र बनें तो, हम महान् के में साधन मात्र हैं इस भाव से वर्तन करें तो, अहंकार को पास न फटकने दें तो। यों करें तो हमारा जीवन कृतार्थ हो जावे।

बारहवाँ अध्याय

सातवें अध्याय से हम बारहवें अध्याय तक आ गए। भक्ति के रस-प्रवाह का यह आखिरी अध्याय है। यह छोटा-सा बीस श्लोको का अध्याय अत्यन्त मधुर है, अत्यन्त पवित्र है। कर्मवीर महर्षि अण्णा साहिब कर्वे ने अपने आत्म चरित्र में लिखा है 'बारहवें अध्याय के श्लोक रोज गुन-गुनाता हूँ।' सब इस अध्याय को याद करें, कहे। जीवन पर इसका हुए बिना नहीं रहेगा।

इस बारहवें अध्याय में अर्जुन ने एक प्रश्न पूछा है। पाँचवें अध्याय में पूछा है कि संन्यासी श्रेष्ठ कि कर्मयोगी? यहाँ यह प्रश्न है कि तुझे निर्गुण भक्त अधिक प्रिय है कि ? पाँचवें अध्याय में भगवान ने उत्तर दिया है। 'रे , संन्यासी और कर्मयोगी दोनों समान हीं हैं, इनमें द्वैत , अन्तर देखना मूर्खता है—यदि देखना ही हो तो यह कर्मयोग ज़रा समझने मे सरल है इसलिए विशेष है। कहना तो यों कहें।' जैसा यह उत्तर वहाँ दिया गया है वैसा ही यहाँ भी है। सगुण भक्त तुझे अधिक प्रिय हैं या निर्गुण? इस प्रश्न का क्या उत्तर देंगे? एक माता के दो पुत्र हैं। अच्छी कमाई करता है, मा से दूर रहता है। और दूसरा

मा को क्षण भर भी नहीं छोड़ सकता। उस मा से यदि तुम पूछो कि 'मा, इन दोनो बेटो में तुझे कौन अधिक प्रिय है ?' तो मा क्या उत्तर देगी ! कहेगी 'दोनों मुझे एक ही से प्यारे हैं; परन्तु ये छुटका है न ? इसको मेरे बिना चैन ही नहीं पड़ती। सामने सामने ही रहा आता है। मेरे पैरो के पास ही पास घुटनो के बल घूमता है। पर मुझे तो दोनो ही प्यारे हैं।

जीवन को सगुण और निर्गुण दोनों के अनुभव में डुबाना चाहिए। तभी जीवन में पूर्णता प्राप्त होगी। पहिले तो हम सभी सगुण उपासक ही रहते हैं। बुद्ध धर्म में तीन समर्पण कहे गए हैं—

१. बुद्धं शरणं गच्छामि
२. सघं शरणं गच्छामि
३. धर्मं शरणं गच्छामि

पहिले हम किसी महात्मा के आसपास इकट्ठे होते हैं। बुद्ध सरीखी कोई महान् विभूति उपस्थित हुई कि उस मूर्ति की ओर हमारी रुझान हो उठती है। लोकमान्य तिलक थे, उनके आसपास लाखो लोग हो गए। महात्मा जी आये, उनके भी चारो ओर लाखो एकत्रित हुए। इस प्रकार हम आँखों के सामने सगुण मूर्ति रखकर ही चलते हैं। आँखो मे कोई सी भी मूर्ति होती है। बुद्ध की हो, लोकमान्य की हो, महात्माजी की हो। उस मूर्ति के सामने हम खड़े होते हैं और प्रकाश प्राप्त करते हैं। परन्तु यह देह तो जाने वाली है। सारी मूर्तियाँ, सारे रूप नष्ट होने वाले हैं, मिट्टी मे मिल जाने वाले हैं। मूर्ति मिट गई तो क्या रोने बैठेंगे ? 'समर्थ' के प्राणोत्क्रमण का अवसर समीप आया तो सारे शिष्य रोने लगे। उस समय 'समर्थ' ने

कहा ' क्या यही सीखे हो ? मेरी पार्थिव मूर्ति मिट गई तो मेरी चिन्मय मूर्ति तो है ही। दास बोध के रूप में मैं ही तो हूँ। '

हम गणपति की प्रतिमा की स्थापना करते हैं। उत्सव करते हैं। उस प्रतिमा की पूजा करते हैं। परन्तु अन्त में उस प्रतिमा का विसर्जन करना पड़ता है। सगुण से निर्गुण की ओर जाना ही होता है। ' बुद्धंशरणं गच्छामि ' की सीढ़ी से ' संघं शरणं गच्छामि ' की सीढ़ी पर आना होता है। बुद्ध को निर्वाण प्राप्त हुआ। फिर क्या ? बाद में बुद्ध के मत के लोग एकत्रित होते हैं। अपना संघ बनाते हैं। मानों बुद्ध की सामुदायिक मूर्ति निर्मित करते हैं। इसी संघ के आधार पर जीवन यात्रा करते हैं। पर संघ भी टिकाऊ कहाँ है ? सारी संस्थाएँ और सारे संघ भंगुर हैं। ऐसे कि आज हैं कल नहीं है। अतएव अन्त मे ' धर्मं शरणं गच्छामि ' की सीढ़ी पर आना होता है। भगवान् बुद्ध के शिक्षण को हम अपने हृदय में धारण करते हैं। हम विचार-मय मूर्ति का निर्माण करते है। ध्येय की मूर्ति बनाते हैं और हम उस ध्येय के उपासक हो जाते हैं। मूर्ति मिट जाती है पर ध्येय अमर है। व्यक्ति जाता है, तत्व रहता है। कराँची काँग्रेस के अवसर पर महात्माजी ने कहा— ' गाँधी जायगा मेरी मुट्ठी भर हड्डियाँ सहज ही चूर हो जायगी। पर मैं जिन तत्वों की नम्रता-पूर्वक उपासना कर रहा हूँ वे तत्व मरने वाले नहीं हैं। '

जीव तो सेवक सदा है 'तत्व' का
*पूछता है कौन रे, इस 'व्यक्ति' को। **

---

* " तत्वा चा बंदा जीव
व्यक्तीला कोण विचारी "

इस तरह यदि हम पहिले व्यक्ति पूजक हैं तो अन्त में हमें ध्येय पूजक बनना चाहिए। और उसे ध्येय-रूपी ईश्वर से

" मेरो जनम-जनम को साथी
तोहे ना विसरूँ दिन-राती " ‡

ऐसा हमें सदैव कहना चाहिए।

सगुण से निर्गुण की ओर न जावें तो जीवन अक्षम रहेगा। जिस व्यक्ति के समीप हम एकत्रित हैं उसके अंतरधान होने पर अपने हृदय में यदि उस व्यक्ति के ध्येय की मूर्ति हमने निर्मित नहीं कर रखी है, तो हम पंगु हो जावेंगे। सगुण और निर्गुण दोनों ही महान् है। लक्ष्मण सगुण भक्त थे। राम जब वन की ओर चले तो लक्ष्मण ने कहा 'हे राम, तुम्हारे बिना मैं क्षण भर भी जीवित नही रहूँगा। 'मीन दीन जनु जल ते काढ़े' मै मर जाऊँगा। परन्तु इन सगुणोपासक लक्ष्मण को अन्त मे राम का वियोग सहन करना पड़ा। राम और नारद जब गुप्त मत्रणा मे थे तव लक्ष्मण वहाँ पहुँच बैठते हैं। दण्ड स्वरूप उन्हें राम से दूर रहना पड़ता है। निर्गुण का अनुभव उन्हें करना ही पड़ा। भरत जैसे निर्गुण-उपासक थे। राम उनके सामने प्रत्यक्ष रूप से नहीं थे तो भी वे १४ वर्ष तक नन्दी ग्राम मे उनका ध्यान करते रहे। परन्तु राम से भेंटकर वे चित्रकूट से उनकी चरण पादुकाएँ ही ले आए। उतना आधार उनको होना ही था। सगुण की उतनी रसात्मता उन्हें आवश्यक प्रतीत हुई।

बहुधा ऐसा लगता है कि सगुण की पराकाष्ठा ही निर्गुण है। सब जगह ईश्वर का रूप दिखने लगा कि अन्त में हम इस

---

‡ 'जेथें जातों तेथें तूं माझा सांगाती'

मूँद कर परम शान्त में निमग्न हो जाते हैं। जैसे निर्गुणोपासक हो जाते हैं। सगुणोपासक शान्त नहीं बैठता। वह सर्वत्र समाज में विचरण करता है। वह कर्मयोगी हो जाता है। सगुण रूप की सेवा करने के लिए दौड़ा फिरता है। वह दो हाथ के छोटे परमेश्वर की सेवा करने के लिए कटिबद्ध रहता है। और ऐसी सेवा करते करते उत्तरोत्तर अधिक निर्मल होता जाता है। शुद्ध ज्ञान-रूप हो जाता है। बारहवें अध्याय में भक्तों के लक्षण पढ़ो। सगुण ब्रह्म की उपासना करते-करते, आसपास के परमेश्वर की कर्ममय पूजा करते-करते उसमें स्वयं भक्त के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। वह प्रेम-मय हो उठता है। विशुद्ध निरहंकारी। किसी को तनिक भी दुखाता नहीं। स्वयं किसी से ऊबता नहीं। हाथों में सदैव सेवा और दृगों में स्नेह। ऐसा सगुण भक्त सभी का सहारा होता है। सभी का प्राण बन जाता है।

कभी क्षण भर एकान्त मे बैठकर निर्गुण में डूबें। कभी सगुण की माधुरी का आस्वादन करने के लिये संसार में सेवा करते रहें और इन दोनों का आनन्द लूटें। दोनो से जीवन परिपूर्ण करें।

तेरहवाँ अध्याय

तेरहवे अध्याय से फिर एक नया पृष्ठ खोला गया है। आठवें अध्याय तक कर्म का ऊहापोह था; बारहवें अध्याय तक भक्ति का रस प्रवाह था। तेरहवें अध्याय तक ज्ञान का विचार किया गया है।

ज्ञान का अर्थ क्या है? ज्ञान का अर्थ है सद्‌गुण। 'अमानित्वमदंभित्वमहिंसा शांतिमार्जवम' आदि गुणों की याद

दिलाकर अन्त में भगवान् कहते हैं—'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं अज्ञानं यदतोऽन्यथा।'

ये गुण ही ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ पांडित्य नहीं है। ज्ञान का अर्थ किताबी इल्म नहीं है। हमे यह शरीर मिला है। यह देवता का दिया हुआ खेत है। खेती के लिए और ज़मीन जब मिलेगी तब मिलेगी पर यह साढ़े तीन हाथ का खेत तो प्रत्येक को प्राप्त है। जिस तरह ज़मीन जोतकर हम फसल काटते हैं उसी प्रकार हमें अपनी ज़िन्दगी की खेती में सद्गुणो की फसल काटना है।

भगवान् बुद्ध एक दिन भिक्षा मॉंगते हुए एक धनवान किसान के आँगन मे आ खड़े हुए। उन्होने अपना भिक्षा पात्र आगे बढ़ाया। किसान बोला—यह भीख क्यो मॉंगते फिरते हो। मेरे समान किसान बन जावो। यह देखो; सोने-सी अन्न की रास लगी है। भगवान् बुद्ध ने कहा—'मीत मेरे, मैं भी तो एक किसान ही हूँ।'

क्या? तुम किसान हो, कहाँ हैं तुम्हारे खेत? कहाँ है हल? कहाँ हैं बैल? और तुम कौनसी फसल काटते हो?

'मेरा हृदय ही मेरा खेत है। इसमें विवेक का हल जोतता हूँ। वासना-विकार के घास-कूरा की निदाई करता हूँ। प्रेम-सत्य-अहिंसा की अपार खेती काटता हूँ।'

हमे यह दैवी खेती करनी है। देह के साधन द्वारा हमें अपने में सद्गुण उत्पन्न करने हैं। वह प्रसिद्ध तत्वज्ञानी कार्लाइल एक स्थान पर कहता है 'मनुष्य गीध के समान हैं। ज़रा कुछ किया कि उसका फल चाहते हैं। उन्हे बदले मे कुछ चाहिए। परन्तु ईश्वर ने तो पहिले ही शरीर दे दिया है, बुद्धि प्रदान की है, हृदय दे रखा है। जो ये देनगियाँ पहिले ही

मिल चुकी है उनके लिए कृतज्ञ होकर हमें सतत् सेवा करते रहना चाहिए। काँटा दिखे उसे दूर करें। पत्थर दिखे उसे किनारे फेंक दें। जो ऊजड़-बंजर दिखे उसे हरित-भरित करें। प्रभु ने जो पहिले ही दे रखा है उसका ऋण चुकाने के लिए सत्कर्म करते रहना ही हमें शोभा देता है।

परन्तु ऐसा नहीं है कि ये सद्गुण एकाएकी आ जावेंगे। एक-एक गुण को अपनाने के लिए बुद्धदेव ने सैकड़ों जन्म लिए। हमारे हृदय में प्रभु का स्वर विद्यमान है। भीतर से कोई अन्तर्यामी धीमे स्वर मे कहता रहता है 'भाई मेरे' ये कर, ये अच्छा है, ये न कर ये बुरा है। परन्तु वह मंजुल वाणी जैसे हमें सुनाई नहीं देती। अन्तर्यामी लादने वाला तो है नहीं कुछ, और न मार-कूट कर काम कराने वाला ही है। वह धीमे ही बोलेगा। सुन सके तो ठीक। नहीं तो आशा से बाट ही जोहता रहेगा।

परमेश्वर के समान आशावान् कौन है? मनुष्य को जन्म लिए हज़ारों बरस हो गए फिर भी अभी लंगूर सरीखा ही बरतता है। वृक- व्याघ्र के समान रक्त का प्यासा है। माता-पिता का कोई बालक ज़रा बिगड़ा कि उन्हें दु ख होता है। इस हिसाब से सहस्रों वर्षों से जिस प्रभु की कोटि-कोटि सन्तान बिगड़ती आती है तो फिर उसे कितनी निराशा न होनी चाहिए। विख्यात अँगरेज़ नाट्यकार बर्नार्डशा ने एक जगह लिखा है—' प्रभु यह समझकर कि उसके मानव-निर्माण करने का प्रयोग असफल हो गया है एक दिन वह सारी मानव जाति को मिटा डालेगा।' निराशा के कारण हमें ऐसा लगता है; फिर भी प्रभु ऐसा कभी नहीं सोचता। उसकी आशा अमर है। उसके प्रेम में कमी नहीं हुई। उसके नक्षत्र, उसकी वायु, उसके बादल, उसके फूल-फल सभी हमारे लिए सदा उपस्थित हैं।

मनुष्य के प्रेम में बन्धन है। पिता-माता प्रेम से बच्चे का लालन-पालन करते हैं, परन्तु उनके मत के अनुसार यदि लड़के ने वर्त्तन नहीं किया तो उन्हें बुरा लगता है। वे कहते हैं 'तुझे इसीलिए क्या इतना बड़ा किया ?' परमेश्वर कभी ऐसा नहीं कहता। वह अनन्त हाथों से देता है। एक दिन यह मानव मेरी ओर आयगा उसकी यह आशा अनन्त है।

तेरहवें अध्याय मे आगे चलकर श्लोक है—

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।

पहिले प्रभु उपद्रष्टा होता है। वह समीप खड़ा-खड़ा तुम्हारी ओर देखता है। बोलता नही। वह इस आशा से खड़ा रहता है कि कभी न कभी तुम्हारा ध्यान उस ओर जायगा ही। वह धीमे बोला भी तो हमे सुनाई नहीं देता परन्तु अनुभव के संसार मे हम टुक अन्तर्मुखी होने लगते हैं। मन में यह उठने लगता है कि सुन्दर जीवन जियें। जीवन मे विवेक आता है। हम ऐसी योजना करने लगते हैं कि ऐसा करें, इस निश्चय पर पहुँचें, आज से यह ध्येय होगा। उस अन्तर्यामी को आनन्द होता है। वह धीमे से हामी भरता है। अनुमति देता है। वहा उपद्रष्टा कहता है 'पुत्र, यो ही चला चल, तेरा निश्चय सुन्दर है, वह बना रहे। अब उपद्रष्टा दूर से देखने वाला न रहकर समीप आ जाता है। पीठ पर शाबासी देता है। वह अनुमंता हो जाता है। फिर हम आगे बढ़ते जाते हैं। संकटों के बीच भी कहीं न कहीं आधार मिल जाता है। अँधेरे में भी ज्योति दिखाई देती है। लगता है कि प्रभु सहायता दे रहा है। वही भर्ता है। वही सहारा है। फिर उस अन्तर्यामी के प्रति अपार प्रेम और भक्ति उमड़ती है। सारा अहंकार नष्ट हो जाता है और हम कहते हैं 'तेरा ही सहारा है, तूने ही प्रकाश दिया,

तूने ही सँभाला, तूने ही उद्धारा; ' मेरे हाथों जो कुछ वन पड़ा वह तेरी ही कृपा का फल है। जो कुछ मुझ से हो सका उसे तू ही स्वीकार कर। तू ही उसका भोक्ता है। तू ही चराचर का संचालक है, तू ही महेश्वर है। तूने मेरे हृदय में आसीन होकर मुझे धीरे-धीरे सन्मार्ग पर नियोजित किया। तेरी ही दया।

हमारे मुख से ये शब्द निकल पड़ते हैं। निरहंकारी वृत्ति हो जाती है और जीवन के खेत से हम सद्गुणों की खेती काटने लगते हैं। एक गुण आया कि उसके पीछे दूसरा आता है और सद्गुण की संपत्ति बढ़ने लगती है। जीवन में ज्ञान की प्रभा का उदय होता है। कर्म सुन्दर और निर्मल बन पड़ने लगते हैं। जीवन की यही सफलता है। जीवन में अन्य क्या चाहिए?

चौदहवाँ अध्याय

भगवान् ने तेरहवें अध्याय में कहा कि सद्गुणो की खेती करना चाहिए। ज्ञान की व्याख्या की कि सद्गुण ही ज्ञान है। इस चौदहवें अध्याय में विषय को और अधिक स्पष्ट किया है।

इस संसार में सर्वत्र सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों 'का पसारा है। हम इन तीन गुणों के पाश में जकड़े हुए हैं। यह त्रिगुणात्मक माया हमें बाहिर भीतर से घेरे हुए है। इस माया के वन्धन को कैसे तोड़ें? इस जाल से कैसे मुक्त हों?

इन तीन में से तमोगुण को समूल नष्ट कर देना आवश्यक है। तमोगुण याने आलस; तमोगुण याने असावधानी। हमारे देश में इस तमोगुण के साम्राज्य का विस्तार अधिक है। कोई बात करने का वादा करते हैं और बाद मे निस्संकोच कहते हैं

'भूल गए'। इस 'भूल' के रोग का जन्म उस तमोगुण से है। भूलना मन का आलस्य है। महात्माजी ने एक बार 'माडर्नरिव्यू' के लिए लेख लिखना स्वीकार किया। १९३० की अमर दण्डी-यात्रा का प्रारम्भ हो गया था। महात्माजी को क्षण भर की फुरसत न थी। तो भी उन्हे लेख लिखने की बात रोज़ याद आती। वे कहते 'लेख लिखने को रह गया।' आखिर उन्होने वक्त निकाल कर लेख लिख भेजा। इस लेख का यो मज़ा हुआ कि वह ग़लती से रद्दी की टोकरी मे जा बैठा 'माडर्नरिव्यू' के सम्पादक का फिर पत्र आया कि 'लेख भेजिए'। महात्माजी का उत्तर गया कि वह तो कब का भेजा जा चुका। फिर वहाँ खोज हुई अन्त मे वह छोटा लेख मिल गया।

महात्माजी ऐसे कार्य कुशल हैं। बेलगाँव काँग्रेस के समय वहाँ राष्ट्रीय-शिक्षण-परिषद् भी हुई थी। महात्माजी वहाँ उपस्थित थे। एक प्रस्ताव वहाँ पढ़ा गया। वहाँ आए प्रतिनिधियो में से एक तरुण प्रतिनिधिजी बोले 'प्रस्ताव फिर से पढ़ दीजिए, मेरा ज़रा ध्यान न था।' उसी समय महात्माजी बोले 'आपको ही अधिक ध्यान देना चाहिए था।'

सावधानी, कुशलता, चिन्तापूर्वक कार्य करना ये सब सात्विक-गुणो मे है। विनोवाजी एक बार बोले 'जब महात्माजी ने दिल्ली में हिन्दू मुस्लिम ऐक्य के लिए २१ दिन का उपवास किया था उस समय वहाँ सर्व धर्म परिषद् हुई थी। परिषद् प्रारम्भ होने का समय सुबह नौ बजे। परन्तु नौ बजे मण्डप में केवल दो व्यक्ति थे, श्रीमती एनी बेसेंट और मैं।' हमें बुद्धू की तरह कैसे भी वर्त्तन करने की आदत पड़ गई है। बुद्धूपना का अर्थ साधुता नही है। एक पाई की चूक रह गई

* 'आलस उदास नागवणा'

तो उसके लिए एकनाथ रात भर जागे। आलस्य ही हमारा भयंकर शत्रु है। समर्थ ने कहा है—

'आलस्य के कारण सारा जीवन मिट्टी हो जाता है।' आलस्य, निद्रा, असावधानी भय आदि सभी तमोगुण के प्रकार ही हैं। जिसे मोक्ष की ओर जाना है उसे तमोगुण को जीत लेना चाहिए। तमोगुण को उखाड़ फेकना चाहिए।

और रजोगुण क्या है? रजोगुण का अर्थ है सुखोपभोग के लिए की जाने वाली दौड़-धूप। कुम्भकर्ण सोता रहता था तो रावण लगातार साम्राज्य वर्धन ही करता रहता था। एक मूर्तिमान् तमोगुण; दूसरा मूर्तिमान् रजोगुण। रजोगुण याने व्यर्थ की हिलडुल। व्यर्थ बड़बड़ और बे मतलब की उठापटक करना। जिसका जीवन के विकास से कोई सम्बन्ध नहीं ऐसी फिजूल-सी बात करते रहना। हम अपनी कितनी शक्ति का व्यर्थ व्यय करते हैं। वास्तव में सभी शक्ति हमें ध्येय के लिए ही खर्च करना चाहिए। जिस प्रकार सूरज की किरणें दूरबीन पर एकत्रित करके फेंकने से चिनगारी पैदा हो जाती है उसी तरह हमें अपनी सारी शक्ति का समूह ध्येय पर ही झोंकना चाहिए। परन्तु हम शक्ति का अर्थहीन व्यय करते है। गप्पें ही मारते है। खाने-पीने की चर्चा ही करते रहते हैं। चित्रपट में ही लिपटे रहते हैं। नाना प्रकार के, नाना रंग के वस्त्रो में सजते रहते हैं। केश रचना मे ही लगे रहते हैं। स्त्रियाँ कान और नाक मे छेद कराती हैं, नाक मे लौंग और कान मे मोती पहिनती हैं। अलंकारों को रखने के लिए मानो शरीर मे पेटियाँ बनाती हैं। इन सब का क्या उपयोग है? इनसे जीवन क्या समृद्ध बनता है? क्या मन और हृदय का विकास होता है?

कोई वायुयान में बैठकर पक्षी बना चाहता है। नो कोई पनडुब्बी मे बैठकर मछली बना चाहता है। मानव का रूप ग्रहण कर भी मानो पशु-पक्षी होने की इच्छाएँ उठती हैं। ये सारी चिन्ताएँ किस लिए ? इसका यह अर्थ नही की वायुयान का अनुसन्धान ही ग़लत है। वायुयान का उपयोग अकाल पीड़ित भूभागों में अन्न पहुँचाने मे करो। जिन-जिन बातो से जीवन में सौंदर्य और मंगल की सृष्टि हो वे तो रहें ही। पर व्यर्थ का ढकोसला किस काम का ?

शरीर की फिक्र इसलिए करनी चाहिए कि हम समाजोपयोगी कार्य करने योग्य बने रहें। अन्न-वस्त्रादि की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी ही होनी चाहिए। परन्तु जिन बातो से उन्नत होने की नही बल्कि हमारे रपट पड़ने की सम्भावना है उन्हे क्यो करें ? खा ही रहे हैं, खेल ही रहे हैं, चुट्टा ही पी रहे हैं, बराबर पान-सुपारी ही ठूँस रहे हैं, लगातार गा ही रहे हैं, खी-खी खीसें ही निपोर रहे हैं, नटा-गटा ही कर रहे हैं, झगड़ ही रहे हैं, काटा-छाँटी ही कर रहे हैं; ऐसा जीवन भदेस है। तमोगुणी जीवन में हम पत्थर हो रहते हैं। और रजोगुणी में कभी चिड़िया चुनमुन कभी वृक-व्याघ्र हो रहते हैं। सिर्फ शारीरिक सुख भोग की हविस रखोगे तो फँसोगे, मरोगे, नष्ट होजाओगे।

सेवा के तमाम काम पड़े हुए हैं। राष्ट्र को उभारने के असंख्य कार्य हैं। नाना प्रकार की सेवा करने के लिए महात्माजी तुम्हें पुकार रहे हैं। ईसा ने एक बार कहा 'अरे, मछुआ मछली पकड़ता है परन्तु मैं मनुष्यो को फँसाता हूँ उन्हे दीवाना बनाता हूँ और उनमें नई धुन पैदा करता हूँ।' इसी तरह महात्माजी मानवो को आकृष्ट करने के लिए खड़े हैं। राष्ट्र के

इस या उस कर्म की ओर तुम्हें खींचना चाहते हैं। वे पुरुष महान् मानो कह रहे हैं 'खादी पसन्द न हो तो गो-सेवा उठा लो, नहीं तो राष्ट्र-भाषा प्रचार ही सही। ग्रामोद्योग, मधु-संवर्धन विद्या, हरिजन सेवा कोई भी चुन लो। या हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न सुलझाओ, स्वच्छता करो, आरोग्यता बढ़ाओ, व्यायाम शालाएँ खोलो, कोई भी काम उठा लो।' वे इन सारे कर्मक्षेत्रों का प्रदर्शन कर रहे हैं। राष्ट्रोद्योग के इस जाल मे तुम्हे फँसाया चाहते हैं। पर तुम्हारा हमारा समय व्यर्थ जा रहा है। यह जीवन कर्तव्य के लिए है। आयु प्रभु की देन है। सारी आयु का लेखा लगाना होगा। हमने अपनी शारीरिक मानसिक और बौद्धिक शक्ति का व्यय कैसा किया, किसलिए किया, यह हिसाब देना होगा। क्या दे सकोगे ?

जीवन परम पुरुषार्थ के लिए है। अपनी शक्ति इधर उधर खर्च न करते हुए यदि सारी की सारी परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए ही लगाई तो भी पूरी न पड़ेगी। अन्त में प्रभु की शरण जाकर उससे दया की याचना करनी पड़ती है। सहायता के लिए प्रार्थना के बल का आह्वान करना होता है। जब ऐसी बात है तो हम अपनी शक्ति क्षुद्र बातों मे बे-हिसाब क्यों खर्च करते रहें।

यदि विवेकानन्द फ़िजूल चर्चा करते तो परमहंस राम-कृष्ण नाराज़ होकर कहते 'क्या बे-मतलब का कूड़ा-करकट कर रहा है' विवेकानन्द ने अपनी सारी शक्ति का संचय किया; ब्रह्मचारी रहे। उनके लिए कुछ ऐसा नहीं रहा जो अगम्य हो। ᳵ बार वे जर्मन पण्डित डाइसन से भेंट करने गए। वहाँ एक पुस्तक रखी थी। विवेकानन्द ने जल्दी-जल्दी सारे पन्ने उलटा डाले। फिर डाइसन से बातचीत के सिलसिले में उसी पुस्तक

के उद्धरण देने लगे। डाइसन चकित हो गया। उसने पूछा 'यह पुस्तक कब पढ़ डाली?' विवेकानन्द ने कहा 'अभी तो'। 'अभी-अभी इतना कैसे पढ़ डाला?' 'मैं परिच्छेद के परिच्छेद पढ़ता हूँ।' विवेकानन्द प्रकरण के प्रकरण पढ़ डालते थे। छोटा बच्चा एक-एक अक्षर पढ़ता है हमारी आँखो में पूरी पंक्ति अमाती है। परन्तु विवेकानन्द की आँखें एक साथ पूरा प्रकरण पढ़ लेती थीं। यह शक्ति कहाँ से आई? मन की एकाग्रता से, ब्रह्मचर्य से, उन्होने अपनी शक्ति का प्रचण्ड संचय कर रखा था।

लोकमान्य के ऊपर कितने संकट छाए। बन्दी होकर कितना रहना पड़ा। डा० भांडारकर एक बार बोले 'लोकमान्य को जितने संकटो का सामना करना पड़ा उतना मुझे करना पड़ता तो कब का राम नाम सत्य बोल दिया गया होता। लोकमान्य को यह शक्ति कहाँ से प्राप्त हो गई? उनके अपने संयम से। उनके पास एक स्त्री अर्जी लिखवाने के लिए आई। ऊपर सिर उठाकर उन्होंने उसकी ओर देखा भी नहीं। इसीलिए प्रसिद्ध पत्रकार नेव्हिन्सन ने लिखा है 'लोकमान्य की आँखो में जो ज्योति थी वह मैंने और किन्ही आँखो मे नहीं देखी।' यह तेज कहाँ से आया? उन्होने अपनी शक्ति फालतू बातो मे या सुख-भोग मे व्यय नहीं की।

महात्माजी ने छत्तीसवें वर्ष की अवस्था से ब्रह्मचर्य का पालन किया है। इसके पहिले ही वे कार्यक्षेत्र मे उतर चुके थे। एक बार वे सीलोन गए थे। साथ मे कस्तूरबा भी थी। सभा में परिचय देने वाला बोला—'आज महात्मा गाँधी आ गए हैं उनके साथ उनकी माता श्री कस्तूरबा भी हैं।' बाद में भाषण करते हुए महात्माजी ने कहा—'परिचय देने वाले महानुभाव

ज़रा चूक गए। कस्तूर बा मेरी पत्नी है। परन्तु ये भी सच है कि कितने ही वर्षो से मैं उनकी ओर माता की दृष्टि से ही देखता आ रहा हूँ'। महात्माजी इस वृद्धावस्था मे राष्ट्र का प्रचण्ड बोझा किस शक्ति के बल पर उठाते हैं उसे पहिचानो।

रज़ोगुण मे मग्न रहोगे तो ध्येय के लिए शक्ति ही न बच रहेगी। अतएव इस रजोगुण पर विजय प्राप्त करो। वासना-विकार के वेग को रोको। पशु के समान सर्वत्र दौड़ पड़ने वाले उच्छृंखल मन को वश में करो और सारा ध्यान सात्विक गुणों की ओर लगाओ।

परन्तु सत्व-गुण को जीतना भी आवश्यक है। तमोगुण और रजोगुण तो पूर्णतया नष्ट ही कर डालना चाहिए पर सत्व गुण के सम्बन्ध मे यह नहीं करना है। जैसे पुलिस को क़ैदी को कमर से नीचे तक के हिस्से में गोली मार कर ज़ख़्मी करने का अधिकार है उसी तरह हमें सत्व-गुण को घायल कर रखना चाहिए। इसका क्या मतलब ? इसका अर्थ यही है कि सत्व-गुण का अहंकार न होने देना चाहिए। सदा हमारे लिए और समाज के लिए सात्विक क्रियाएँ आवश्यक हैं। परन्तु ये सात्विक क्रियाएँ अपने हाथो सहज ही बन पड़ना चाहिए। हमारी नासिका रात-दिन श्वासोच्छ्वास करती है। क्या उसे हम वाह वाही देते हैं ? क्या हम उसका आभार मानते हैं ? साँसें लेना—छोड़ना नाक का सहज धर्म है। शाला की छुट्टी हुई कि लड़के अपने आप घर की ओर चल उठते हैं। उनके पैरों का वह सहज धर्म हो जाता है। अँधेरा दूर करना सूर्य का सहज धर्म है। वह कहेगा—मै अँधेरा दूर न करूँ तो क्या करूँ ? इस प्रकार सत्कार्य हमारा सहज धर्म हो जाना चाहिए। फिर उसका हमें अहंकार न होगा। दूसरों की सेवा करने के लिए

सन्त सहज दौड़ पड़ते हैं। उन्हें ऐसा नहीं लगता कि वे कुछ विशेष कर रहे हैं।

सत्व-गुण पर विजय प्राप्त करना याने उसके अहंकार को जीतना। इस प्रकार तीनों पर अपना प्रभुत्व जमाना। त्रिगुणातीत होना। चौदहवें अध्याय के अन्त में त्रिगुणातीत के लक्षण दिए हैं। दूसरे अध्याय के अन्त में स्थितप्रज्ञ के लक्षण हैं। बारहवें अध्याय में भक्त के लक्षण। चौदहवें अध्याय में त्रिगुणातीत के लक्षण। ये सारे लक्षण एक ही हैं। तात्पर्य यह कि कर्मयोगी, भक्त, ज्ञानी ये सब एक ही हैं। कर्म, भक्ति और ज्ञान भी मानो भिन्न नहीं हैं।

दत्तात्रय ज्ञान-मूर्ति हैं। परन्तु उनका जन्म किनसे है? अत्रि व अनसूया से ज्ञान स्वरूपी सद्‌गुरु दत्तात्रय का जन्म हुआ। 'अ-त्रि' याने त्रिगुणातीत भाव और 'अनसूया' का अर्थ है निर्मत्सर वृत्ति; इन्हीं से ज्ञान का उद्‌भव सम्भव है।

त्रिगुणातीत का अर्थ है देह-जनित चिन्ता का परिहार। ऊपरी आच्छादन से अलग होकर जिस तरह नारियल का भेला भीतर ही बज उठता है उसी तरह देह की आसक्तियों से सम्पूर्णतया अलग होकर आत्मा को गुंजारित रखना ही त्रिगुणातीत होना है। ईसा को सूली पर चढ़ा रहे थे। ईसा बोले 'हे प्रभु, यह पीड़ा किस लिए?' फिर बोले 'तेरी ही इच्छा हो।' देह-जनित आसक्ति पर इस तरह विजय-प्राप्ति करना चाहिए। त्रिगुणातीत होकर प्रभु के हाथों साधन मात्र हो रहना चाहिए। यही ध्येय महान् है। इस परम-पुरुषार्थ को प्राप्त करना आवश्यक है। उसके लिए हम अविरत परिश्रम करें।

पन्द्रहवाँ अध्याय

पन्द्रहवें अध्याय को 'पुरुषोत्तम-योग' कहते हैं। यह अध्याय भी अत्यन्त पवित्र माना जाता है। इसका रोज पाठ करते हैं। किसलिए है यह इतना पवित्र ? इसलिए कि इसमें जीवन का सम्पूर्ण शास्त्र वर्णित है।

इस अध्याय में तीन पुरुष कहे गए हैं। क्षर-सृष्टि यह प्रथम पुरुष; शरीर में जगने वाला जीव यह दूसरा पुरुष; और इन दोनों में व्याप्त रहने वाला यह तीसरा पुरुष—पुरुषोत्तम।

क्षर-सृष्टि का अर्थ ही नश्वर सृष्टि; बदलने वाली सृष्टि; नव-नव रूप धारण करने वाली सृष्टि। क्षरता सृष्टि का दूषण न होकर मानो भूषण है। जो सब बदलता है वही सनातन है। 'सनातनो नित्य नूतनः।' इस क्षर सृष्टि से हमें सेवा करने के साधन प्राप्त होते हैं। इसलिए यह क्षर सृष्टि पवित्र मानना चाहिए। मानना चाहिए कि वही मानो चेतना-मय है। प्रतिदिन यदि वे ही फूल हों तो उन्हें पूजा मे चढ़ाने मे भक्त को प्रसन्नता न हो; अतएव विविध ऋतुएँ हैं और विविध पुष्प हैं। कभी बकुल फूलता है तो कभी पारिजातक; कभी कमल विकसता है तो कभी गुलाब, कभी मोगरा। क्षर सृष्टि का सौभाग्य है यह। सदा पूर्णिमा ही रहती तो हम ऊब उठते; परन्तु कभी दूज की चन्द्रकला है तो कभी अष्टमी का अर्धचन्द्र; कभी पूर्णिमा है तो कभी अमावास्या। पूर्णिमा को चन्द्र का पूर्ण साम्राज्य तो अमावास्या को तारकों की पूर्ण स्वतंत्रता। चन्द्र की क्षरता भी आनंद-प्रद है।

कभी रिमझिम बून्दें, कभी मूसलाधार वर्षा। नद-नदी भर चलते हैं, कलरव करते पानी बहने लगता है। कभी मज्ञ

की, ऊमस तो कभी गुलाबी शीत। कभी बादल घिर आते हैं तो सारी सृष्टि मानो नाच उठती है और कभी अनन्त प्रशान्त मे मग्न हो जाती है। सृष्टि का यही आनन्द है। क्षरता का यह वैचित्र्य ही वैभव है।

समाज बदलता है। साधन बदलते हैं। पुराने साधन गए तो नए आए। बैलगाड़ियाँ कम हुईं तो मोटरें आईं। सेवा के साधन बदल गए तो भी सेवा तो करणीय है ही। हमारा शरीर भी बदलता है। पहिले छोटा था अब बढ़ गया है। सात वर्ष की अवस्था में शरीर के मानो सब अणु परमाणु ही बदल जाते हैं। इसी कारण शरीर में तेज रहता है और सेवा-भाव वहन करना शक्य होता है।

क्षर-सृष्टि सेवा के साधनों की समष्टि है। इस क्षर-सृष्टि को पुरुष मानो; उसे तुच्छ मत गिनो, पवित्र समझो। इस तरह कि चरखा मेरी सेवा का साधन है; उसे मैं अच्छी माल पहिनाऊँगा। स्नेह (तेल) दूँगा; उसे स्वच्छ रखूँगा; उसकी उपेक्षा नहीं करूँगा। मोटर मेरी सेवा का साधन है, मै उसमें लोगो को लाता-लेजाता हूँ; तो मै उस ठीक रखूँगा, देखूँगा कि उसमें पेट्रोल है कि नही, टायर अच्छे लगे हैं कि नहीं? नही तो सवारियो की गत बन जायगी। ये सवारियाँ ही मेरे भगवान् हैं। उनकी सेवा का साधन, अपनी मोटर हम दुरुस्त रखें। यह हल मेरी सेवा का साधन हैं। ये बुहारू, चक्की, चूल्हा, पुस्तक सब अपनी-अपनी सेवा के साधन हैं। इन्हे हम पवित्र मानते हैं। इन साधनों को हम भलीभाँति रखते हैं। अर्जुन की प्रतिज्ञा थी कि समाज की रक्षा करने वाले मेरे गांडीव धनुष की यदि कोई निन्दा करेगा तो मै उसे सहन नहीं कर सकूँगा। वह धनुष ही अर्जुन की सेवा का साधन था। स्त्रियाँ झाडू-

बुहारू को, चूल्हे-चक्की को पैर नहीं छुलाने देती! यदि बच्चे का पैर छू भी गया तो कहती हैं 'पैर पड़ो'। पण्डित अपनी पुस्तक को लात नहीं लगने देगा। दशहरा आया कि किसान हल की पूजा करेगा, दर्जी अपनी सीने की मशीन को झण्डियों की माला पहिनायगा, मोटर वाला मोटर सजायगा। इन सबका क्या प्रयोजन? यही कि यह क्षर-सृष्टि, ये सब साधन पवित्र हैं। पुरुष-मय हैं। जैसे चेतना-मय हैं।

क्षर-सृष्टि पुरुष है और क्षर-सृष्टि में विचरण करने वाला अ-क्षर जीव भी पुरुष ही है। यह अक्षर जीव गए जन्म में था, इस जन्म में है, आते जन्म में भी रहेगा। सेवा करते थकेगा नहीं। तुकाराम महाराज कहते हैं—*'सुखें घालावे जन्मासी!'* संसार में बार-बार जन्म लेकर सेवा करने के लिए जीव का अस्तित्व है। क्षर-सृष्टि के रूप मे विपुल और विविध साधनों को देखकर वह आनन्दित हो उठता है।

क्षर-सृष्टि पुरुष है, अक्षर जीव पुरुष है और इन सब में व्याप्त रहने वाला पुरुषोत्तम है। जैसे सारा विश्व ही पुरुष-मय है, चेतना-मय है। सर्वत्र एक ही पवित्रता, एक ही सौरभ, एक ही आनन्द। 'अमृतानुभव' में श्री ज्ञानेश्वर कहते हैं—गुहा-चित्रों को देखने से प्रतीत होता है कि पत्थर के भक्त, पत्थर के देवता की पत्थर के फूलों से पूजा कर रहे हैं; इसी तरह क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम ये सब एक ही चेतना के प्रकार है।

सब जगह ऐसे अनन्य दर्शन होने से अधिक धन्य और क्या है! कबीर ने कहा है—

घूँघट का पट खोल रे!
घट-घट में वह साईं रमता कटुक वचन मत बोल!
रे कबीर आनन्द भयो है बाजत अनहद ढोल रे!

ऐसी ही है वह परम दशा। द्रुम-लताएँ, भाई-बहिनें हो जाती हैं। ऐसा अनुभव होता है कि सर्वत्र हम ही हम छाये हैं। नयनों में आनन्दाश्रु छलछला चलते हैं, अङ्गों में रोमांच हो आता है।

और कौन विचार इससे अधिक महान् है? और कौन तत्त्वज्ञान इससे अधिक उदात्त है? चरम-सीमा तो यहीं हो चुकी। पन्द्रहवें अध्याय के अन्त में इसीलिए भगवान् कहते हैं—

"इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।"

तुम्हें यह परम निगूढ़ शास्त्र पूरा बतला चुका; गीता-शास्त्र मानो यही समाप्त हो गया।

पन्द्रहवाँ अध्याय कर्म, भक्ति और ज्ञान की एकरूपता का दिग्दर्शन करता है। कर्म करने के साधन, जीव और परमात्मा सभी पुरुष-मय हैं—अभेद रूप से एक हैं। कर्म, भक्ति और ज्ञान भिन्न-भिन्न नही हैं। कर्म ही भक्ति है, भक्ति ही ज्ञान है, ज्ञान ही कर्म है। सदा हमें एक में दूसरा मिलाते ही रहना चाहिए। खरे काम मे भक्ति और ज्ञान रहेगा ही। खरी भक्ति में कर्म और ज्ञान रहेगा ही। खरे ज्ञान में कर्म और भक्ति आ ही जायगी। यही तो एकरूपता है। फूल की पखुरी मे जिस तरह रङ्ग और सुरभि अभेद रूप से वर्तमान है उसी तरह हमारे कर्म में भक्ति और ज्ञान का रङ्ग सौरभ हो; भक्ति में कर्म और ज्ञान का रङ्ग सौरभ हो और ज्ञान मे कर्म और भक्ति का रङ्ग सौरभ हो। जिस प्रकार हम दूध में केशर और शक्कर मिलाते हैं उसी प्रकार हम कर्म भक्ति और ज्ञान को एकरूप बनावें।

ऐसा है यह गीता-शास्त्र—ऐसा है यह परम धन्य पुरुषोत्तम योग।

सोलहवाँ अध्याय

पन्द्रहवें अध्याय के अन्त में यह उल्लेख है कि गीता-शास्त्र कहा जा चुका। सोलहवाँ और सतरहवाँ अध्याय परिशिष्ट के रूप में हैं। अठारहवाँ अध्याय उपसंहार हैं।

इस सोलहवें अध्याय में दैवी और आसुरी संपत्तियों का वर्णन है। जगत के आरम्भ से ही यह द्वन्द्व भिन्न-भिन्न रूपों में चल रहा है। इस द्वैत का वर्णन सभी धर्मों में किया गया है। ईसाई धर्म मे खुदा और शैतान का अखण्ड विरोध वर्तमान है। पारसी धर्म में भी यही है। यहाँ गीता भी वही कहती है। प्रश्न यह है कि सत् और असत् के इस झगड़े में हम किस ओर रहे? इस कर्म-विरोध में से ही संसार की प्रगति होती आई है। संघर्ष में विकास निहित है। संघर्ष में कदम आगे बढ़ता है।

दैवी गुणों में 'अभय' को प्रथम स्थान दिया गया है। अन्त में नातिमानिता या नम्रता का वर्णन है। अभय के बिना प्रगति शक्य नहीं; परन्तु नम्रता भी आवश्यक है। साइकिल में जैसे ब्रेक होता है वैसे ही नम्रता की लगाम अनिवार्य है। तभी गति सुचारु होगी।

निर्भय-वृत्ति को आगे किए बिना विकास का मार्ग नहीं खुलता। जवाहरलाल ने एक बार कहा 'निर्भयता-पूर्वक विचार करो, निर्भयता-पूर्वक आचार करो।' लोकमान्य ने सिर ऊँचाकर आवाज़ दी थी। 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है; मैं उसे लेकर ही रहूँगा।' श्री आगरकर ने खड़े होकर टेर लगाई 'कि अहित-कर रूढ़ियों के बन्धन तोड़ देना चाहिए; स्त्री-शिक्षा का प्रचार करना चाहिए।' श्री आगरकर

को मि । जीते जी उनका जनाज़ा निकाला गया। परन्तु श्री आगरकर डिगे नहीं। वे वीर की तरह डटे रहे। उनके विचारों की विजय का अब डंका बज रहा है। आज महात्माजी अभय खड़े हैं। ऐसे निर्भय पुरुष आकर संसार को आगे ले जाते हैं। पहिले ससार तैयार नहीं होता, परन्तु इन ध्येयवादी व्यक्तियो का त्याग देखकर, उनकी अचल निष्ठा देखकर अन्त मे सारा लोक उनके पीछे हो लेता है और आगे वढ़ चलता है।

जगत मे एक ओर अहंकारी लोग हैं—यह प्राप्त करूँ, वह हड़पूँ; इसे लूटूँ, उसे खसूटूँ; यहाँ अपना साम्राज्य बढ़ाऊँ, वहाँ उस देश को गुलाम बनाऊँ; हमीं उच्च संस्कृति के, बाकी के हेय; हमीं स्पृश्य—शेष अछूत—एक ओर इस प्रकार का राक्षसी अहंकार ताण्डव कर रहा है। इस राक्षस से दो-दो हाथ करने के लिए सत्प्रवृत्ति के लोग तैयार खड़े हैं। महात्माजी से किसी ने सवाल किया—"जीवन मे आपका आनन्द क्या है?" उन्होने कहा—"संसार का अन्धकार दूर करने के लिए अथक परिश्रम करने मे ही मेरा आनन्द है।"

दुनियाँ में कुछ लोग तो ऐश-आराम से हैं परन्तु करोड़ों ऐसे हैं जो फाकाकशी कर रहे हैं। इस विषमता को देखकर जो सिर नहीं उठाता, इसका संहार करने के लिए जो विद्रोह की टेर नही लगाता वह राक्षस है। जो अपनी ही पूँजी की रक्षा करता है वह राक्षस है; जो दूसरो को देता है वह देवता हैं। देश मे ज़मींदार और किसान में कितनी विषमता है! ज़मींदारों को अनेक अधिकार प्राप्त हैं। पहिले उनकी ही फसल काटी जानी चाहिए। पहिले उन्हीं के बोझे ढुल जाने चाहिए। जङ्गल भी उन्हीं के हैं। ऐसे कितने ही मौरूसी हक़ उन्हे हैं। तनिक भी

श्रम न करके भी गद्दियों पर लोटने वाले इन छाती के पीपलों को देखकर किनका रुधिर खौल न उठेगा ? किसान मर-मरकर काम करता है परन्तु उसके बच्चों की देह पर पूरे कपड़े नहीं है। स्त्रियों के लिए ठीक से धोतियाँ नहीं है। घर में भुखमरी है। न ज्ञान है न बल, दरिद्र नारायण का यह बिगड़ा संसार कौन सुधारेगा ? मिलों और कारखानों के मालिक बँगलों में रहते है। मोटरें उड़ाते फिरते हैं परन्तु मज़दूरों की दशा कितनी गिरी हुई है। रहने को ठीक जगह नहीं, खाने को पेट भर अन्न नहीं, जीवन मे आनन्द नहीं। यह कब तक सहन किया जाय।

साम्यवाद के सिवाय उद्धार का और कोई उपाय नहीं। साम्यवाद का नाम सुनकर घबराने का कोइ कारण नहीं है। साम्यवाद कृति मे परिणत हुआ अद्वैत है। साम्यवाद जीवन में उतरा हुआ वेदान्त है। गाँधीवाद और साम्यवाद का, करते बने, तो, समन्वय करो। अहिंसा के द्वारा साम्यवाद आया तो महात्माजी 'ना' न कहेंगे। स्व० महादेव भाई ने एक बार लिखा था 'कि चुनाव में यदि साम्यवादी योजना स्वीकार कर लोगों ने तुम्हें चुन दिया तो उस योजना को एसेम्बली मे पास कराने मे कोइ हर्ज़ नहीं है।'

कोई भी रास्ता चुनो, लोगों को सुखी करो; जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ सभी को मिलनी चाहिए। अन्न, वस्त्र, ज्ञान, विश्रान्ति, आनन्द सभी के पल्ले पड़ना चाहिए। आज ऐसी परिस्थिति है कि सर्व साधारण को हम इन वस्तुओं का वितरण कर सकते हैं। केवल एक अच्छी योजना की आवश्यकता है। यदि खोजों और अनुसन्धानों का उपयोग हम मानव के सुख के लिए करें तो यह सब कुछ संभव हो सकेगा।

पण्डित जवाहरलाल ने एक वार कहा—' करोड़ो आज विना अन्न और वस्त्र के रह रहे हैं, वे नहीं जानते कि ज्ञान और कला का आनन्द किस चिड़िया का नाम है, तब लोग धर्म और संस्कृति की लन्तरानियाँ क्यों हाँके चले जाते हैं ?' बात ठीक है। सच्चा धर्म तो अभी आने ही को है।

" सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःख माप्नुयात्'॥"

केवल इसे ओठों से पुट-पुटाने से काम नहीं चलेगा। संसारमें इस मनोहारी और मंगलमय दृश्य की प्रत्यक्ष अवतारणा के हेतु सर्वत्र बलिदान की भावना से जो संग्राम में डटा रहेगा वही माता का सच्चा पूत है। वही सच्चा ज्ञानी है। वही सच्चा भक्त है।

सत्रहवाँ अध्याय

सत्रहवाँ अध्याय भी परिशिष्ट के रूप में है। इसमें यज्ञ, ज्ञान और तप इन तीन विषयों का वर्णन है। गीता में यज्ञ को धर्म का महान् तत्त्व माना है। गीता में वर्णित यज्ञ का अर्थ क्या है ? यज्ञ याने कमी पूरी करना। तीसरे अध्याय में यह सुन्दर श्लोक आया है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक्॥

सृष्टि के निर्माता ने मनुष्य को अकेला निर्मित नहीं किया; उसके साथ ही उसने यज्ञ भी बनाया। यज्ञ का निर्माण कर प्रभु ने आदेश दिया ' इस यज्ञ की उपासना करो, यह यज्ञ ही तुम्हारी कामधेनु है। उस तीसरे अध्याय में आगे यह कहा

है—'तुम देवताओ के लिए यज्ञ करो, देव तुम्हारे लिए पानी बरसायँगे।' तात्पर्य यह कि एक दूसरे की घाटा-पूरी करना चाहिए। देव स्वर्ग में निवास करते हैं। ये स्वर्गवासी देव जहाँ रहते हों रहने दो; हमें तो भूतल पर ही बड़े-बड़े बँगलों में रहने वाले देवता दीख पड़ते हैं। किसान और मज़दूर इन देवताओं को अपने श्रम की बलि चढ़ाते हैं। इन देवताओं को भी चाहिए कि किसान और मज़दूरों को भर-पूर देवे। बूँद-बूँद न देवें कि जैसे भिखारियो को दे रहे हों, बरसाएँ, वर्षा करें। तभी किसान और मज़दूरो की छीज भर सकेगी। यह यज्ञ-तत्त्व सारी सृष्टि में व्याप्त है। नदियाँ सूखती हैं और मेघों को सजल करती हैं। परन्तु इन रीती नदियो को भरने के लिए मेघ फिर रीते हाते हैं। ऐसा है यह चक्र। मै तेरा घाटा पूरा करता हूँ। तू मेरा घाटा भर दे। हम एक दूसरे से 'राम-राम' करते हैं। तू राम है मैं भी राम हूँ। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' तू देवता है मै भी देवता ही हूँ। हम एक दूसरे को सहारा दें और स्नेह-पूर्वक दें। यही यज्ञ धर्म है।

किसान ने खेत से फसल काटी; खेत का कस चला गया; खेत छीज गया। उस छीज को भरने के लिए किसान खात डालता है; कमी पूरी कर देता है। इसे यज्ञ कहते हैं।

हमारा शरीर सेवा करते-करते थका, छीजा तो उस अपूर्ति की पूर्ति करने के लिए उसे भोजन देना यज्ञ करना है, पेट भरना नहीं है। सेवा कर्म के फलस्वरूप होने वाली देह की थकान को मिटाने के लिए निद्रा आवश्यक है। थके हुए कर्मयोगी की वह नींद पवित्र यज्ञ-कर्म ही है।

स्त्रियाँ चूल्हे पोतती हैं। जूठे बर्तन माँजती है। उघड़ी ज़मीन को लीपती हैं। मैले वस्त्र धोती हैं। ये सब यज्ञ-कर्म ही हैं।

संसार में यदि यज्ञ-धर्म ठीक चले तो आनन्द बरसे। जगत मे आज दुःख है कि यज्ञोपासना नही है। इंग्लैंड भारत को लूट रहा है और स्वय मोटा हो रहा है। भारत का घाटा कैसे पूरा हो सकेगा? सभी जगह इस तरह यज्ञ-विरोधी कार्य हो रहे हैं। हम अपने देश में भी यही पाप करते हैं। मिल-मालिक, ज़मींदार, साहूकार क्या इस भावना से कार्य करते हैं कि किसान और मज़दूर छीजने न पावें उन्हे शान्ति और आनन्द प्राप्त हो?

गीता कहती है कि एक दूसरे का घाटा भरो; यज्ञ-धर्म के उपासक बनो; यदि यज्ञ-धर्म, का सच्चा पालन करोगे तो तुम्हारे पास संचय नहीं होगा; यदि संचय हो भी गया तो उसे दे डालो। समाज की विषमता के गड्ढे भरने के लिए अपना सारा संचय उलीचो। वेद मे ऋषि ने कहा है—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्सतस्य' जो अप्रचेतस है अर्थात् जिसका मन प्रगल्भ नही है, जिसका हृदय उदार नहीं है, उसे अन्न राशि व्यर्थ ही मिली। अन्न की कोठियाँ जो उसने घर मे भर रखी हैं वे उसके प्राण ले लेगीं।

ऋषि की वाणी की सत्यता रूस मे प्रत्यक्ष हो उठी; सर्वत्र ही हो उठेगी। गरीबो के सहन करने की एक सीमा है। जो शंकर है वह 'दरिद्र' भी है 'रुद्र' भी है। और यह जो दरिद्र मनुष्य है वही शंकर है, कल्याणकर है। वह तुम्हे बचाएगा कि मृत्युञ्जय है। परन्तु यदि इस दरिद्र मनुष्य का अन्त विचारोगे तो फिर रुद्र बनकर तुम्हें भस्म कर देगा।

अतएव यज्ञ-धर्म का पालन करो; तुम्हारे पास जो कुछ भी सचित है उसे सेवा के लिए अर्पण करो; और तप करो। देह, मन और वाणी का तप। देह निर्मल रखो, इन्द्रियो को

वश में करो, मन पवित्र बनाओ, ज्ञान प्राप्त करो, ब्रह्मचर्य के उपासक बनो, नव-नव चिन्तन करो, आलस मत करो। यही त्रिविध तप है। सेवा करने के लिए शरीर तेजवान् हो, वाणी मधुर हो, विचारों की पूँजी हो और हृदय की उदारता हो। ये सब बातें त्रिविध तप में है। वाणी का संयम भी बड़े महत्व की बात है। इससे मत-भेद मे भी मधुर बोलना सम्भव हो सकेगा। एक ही कठोर शब्द से जन्म-जन्म की मित्रता टूट जाती है। मुक्तेश्वर ने कहा है—

फूटा मोती टूटा मन जोड़ न सकै विधाता। ❀

अतएव सावधानी से बरतें। समर्थ ने कहा है 'बहुत असावे तणावे' जगह-जगह मित्र-मण्डल हों, पहिचान हो, सहारा हो। मीठे बोलों से यह सब सधता है। 'वशीकरन इक मंत्र है तज दें वचन कठोर' इस मंत्र को बिखरने न दें और मधुर वाणी से सब को मोह लें।

यज्ञ, दान और तप की महिमा कह चुकने के बाद सत्रहवें अध्याय के अन्त में भगवान् कहते हैं, 'जब कोई कर्म करो तो ओम् तत्सत् कहते जाओ। इसका क्या अर्थ? ओम् का अर्थ है सारे साहित्य के मंथन का सार। यह परिभाषा उपनिषद् ने की हैं।' ओम् परमेश्वर का नाम है। इसमें सर्व तत्व-ज्ञान और अखिल धर्म समाहित हैं। ओम् का अर्थ 'है' भी है। क्या ईश्वर है? ओम्, है। इश्वर याने क्या? पूर्णता ही ईश्वर है। ईश्वर का अर्थ है सर्वत्र सच्चिदानन्द का साम्राज्य। सब जगह सत् याने मंगल भावना है। चित् याने ज्ञान है और जहाँ हृदय मंगलमय है और बुद्धि शुद्ध है वहाँ आनन्द प्रकट न हो तो कहाँ हो। इसलिए हम ओम् कहें। ईश्वर परिपूर्णतः

❀ "फुटलें मोती तुटलें मन। साधूं न शके विधाता॥"

शिव-स्वरूप है। आँखों के सामने जो ध्येय है वही सत् है—कहाँ है वह सत्? उत्तर है 'तत्' वह देखो। आँखों के सामने है। 'ओम् तत्सत्' का यह अर्थ है। न्यायमूर्ति रानडे ने एक व्याख्यान मे कहा - वह देखो भारतवर्ष दिख रहा है। जहाँ अन्न है, वस्त्र है, ज्ञान है, कला है। कलह नहीं, रोग नही, अकाल नहीं, सब मिल जुल कर रह रहे हैं और उत्तरोत्तर विकासोन्मुख हैं। यह भारतवर्ष देखो, देवताओ की इस लाड़ली भूमि के दर्शन करो। न्यायमूर्ति के कथन का क्या अर्थ? उक्त का अर्थ 'ओम् तत्सत्' ही है। किसी कार्य को करते समय याद करो कि 'यह मेरा ध्येय है मंगलमय ध्येय है' और डटे रहो। इसका अर्थ भी 'ओम् तत्सत्' है। यह श्रद्धा और यह निष्ठा लेकर आगे बढ़ें तो कृतार्थ हो ही जावें।

अठारहवाँ अध्याय

और अब यह अन्तिम अध्याय है। याने उपसंहार है। भगवान् कहते हैं—'कामना-लिप्त कार्यों का त्याग करना तो अनिवार्य है ही परन्तु जो स्वधर्माचरण सम्बन्धी कर्म है उनके फल का त्याग भी करना चाहिए।' किसी कामना से किए गए काम तो निषिद्ध हैं ही। जहाँ कार्य केवल स्वार्थ की दृष्टि से हाथ मे लिए गए हैं वहाँ फल-त्याग की सम्भावना तक कहाँ? स्वदेशी कपड़े की दूकान करना स्वधर्म है। परन्तु यहाँ के लोग भूखो मरें और अधिक कमीशन की लालच से विदेशी कपड़ों का विक्रय करें तो यह कामना-लिप्त कर्म है। गीता ऐसे कर्मों को निषिद्ध मानती है। और जो स्वधर्माचरण सम्बन्धी, कर्तव्य-कर्म हैं उन्हें निष्काम-बुद्धि से करने चाहिए।

'कर्म' कहते ही उसके साथ थोड़ा बहुत दोष तो लिपट ही आता है। जैसा अग्नि के साथ धुँआ वैसा कर्म के साथ दोष। विशुद्ध निर्दोष कर्म संसार में शक्य नहीं। खेती का काम करते हुए कितने ही कीड़े-मकोड़े पैर के नीचे कुचल जाते हैं। पर इसीलिए यदि हम खेती न करें तो कितने मनुष्य भूखों मरने लगेंगे। एक दोष को दूर करने जावें तो दूसरा और बड़ा दोप पल्ले पड़ता है। अतएव ईश्वरार्पण बुद्धि से कार्य करते जाओ। हमारे हाथ में यही है कि कार्य को दोष हीन बनाने के लिए यथा-शक्ति प्रयत्न करते रहें।

इस प्रकार निर्दोष कर्म करते-करते पूर्णता विकसित होगी। विशुद्ध निरहंकारी दशा प्राप्त होगी। सर्वत्र आत्मा-स्वरूप दृष्टिगोचर होगा। आसक्तियाँ नष्ट हो जावेंगी। भेद-प्रभेद विलीन हो जायेंगे। ऐसा कर्मयोगी और निष्काम सेवक जो करेगा वह मंगलप्रद होगा। उसका मारण भी तारण हो उठेगा। मा बच्चे को मारती है। पर स्वयं रो उठती है। यह क्या मारना है? वह तो बच्चे को ताड़ना न देकर जैसे अपने आपको ही देती है। सन्तो की प्रताड़ना भी इसी प्रकार की होती है। रवीन्द्र ने कहा—'जो प्रेम करता है उसे ताड़ना देने का भी अधिकार है।' परन्तु हम जैसे पहिले ताड़ना देने का ही अधिकार जमाना चाहते हैं। शिक्षक बालक को छड़ी मारता है, पर पहिले क्या वह प्रेम देता है? पहिले प्रेम बरसाओ और फिर प्रेम के अधिकार के साथ यदि आवश्यक हो तो शासन का अधिकार भी जताओ।

राम ने रावण को मारा, कृष्ण ने कंस को मारा। हम कहने लगते हैं कि फिर हम क्यों न मारें? परन्तु राम ने रावण को मारा तो उसका उद्धार हो गया। हमने पहिला वाक्य पढ़

-लियां और आगे का पढ़ा ही नहीं। एक मुसलमान भाई शराव पीता था। उससे किसी से कहा 'अरे शराव क्यो पीता है वह तो धर्म-विरुद्ध है।' उसने कहा '.कुरान मे लिखा है कि तू शराव पिये' तब वह गृहस्थ वोला—'भला .कुरान लाकर तो दिखा' वह .कुरान ले आया और उसे दिखाकर वोला 'ये देखो ये लिखा है कि 'तू शराव पिये' तव उस गृहस्थ ने कहा 'अरे आगे भी पढ़ा? 'तू शराव पिये तो नरक का अधिकारी होगा' यह लिखा है। उसने उत्तर दिया 'मै अभी आगे के वाक्य तक आया ही नही हूँ। जहाँ तक पढ़ा तदनुसार काम शुरू कर दिया।' हमारा भी यही हाल है। राम ने रावण का संहार किया तो हम भी लगे संहार करने। परन्तु राम के निष्काम हाथ थे, परम करुणा-मय और रावण के कल्याण के लिए तड़प उठने वाले थे वे हाथ! इसीलिए उन हाथों मरा रावण तरा। क्या ऐसे हाथ हैं हमारे? क्या हम कह सकेंगे कि हमारे हाथो किए सहार मे उद्धार निहित है?

—अस्तु। संसार की सेवा करो। प्रेम बरसाओ। ऐसा करो कि जगत आनन्द-मय हो उठे और यह बरदान माँगो कि—

"शक्ति दो कि सुख दुख को सहज-भाव सह जाऊँ
शक्ति दो कि सेवा में स्नेह फलित पा जाऊँ।"

यह ध्येय ग्रहण करो। ज्ञानेश्वर ने यह वरदान माँगा—

"जो जें वांछील तो तें लाहो। प्राणिजात।"

हम भी ऐसा ही कहें। उसके लिए संग्राम करें। आन्दोलन करें। अनासक्ति पूवक इसी उद्योग मे रात दिन रमे रहें।

इतना कहकर भगवान् अर्जुन से बोले 'हे अर्जुन, सम्पूर्ण गीता-शास्त्र सुन लिया न तूने? तेरा मोह नष्ट हुआ कि नही?'

" कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैएकाग्रेण चेतसा
कच्चिदज्ञान सम्मोहः प्रणष्टस्ते धनंजय ? "

और तब अर्जुन उत्साहित हो बोल उठा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !

'हे देव, मेरा मोह नष्ट हुआ; जागृति हुई। तेरी ही कृपा' भगवान् ने तब अर्जुन से कहा—'ये सच है कि मैंने तुझे आदेश दिया पर उसे मैं तेरे ऊपर लादता नहीं हूँ। तेरी जैसी इच्छा हो वैसा बर्तन कर। यथेच्छसि तथा कुरु।'

गीता की यह महान्ता है। भगवान् की यह उदारता है। परन्तु भगवान् का अर्जुन पर असीम प्रेम है—अतएव उनसे रहा नहीं जाता और वे दी हुई स्वतंत्रता को वापिस ले लेते हैं और कहते हैं—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'

हे अर्जुन, सारे इतर विचार छोड़। एक ही बात पर ध्यान धर। तू मेरी शरण आ। मेरी इच्छा को तू अपनी इच्छा बना, अपनी और मेरी में भिन्नता न रख।

हम सदा यह अन्तिम आदेश याद रखें। समाजवाद हो गाँधी-वाद हो, या कोई वाद हो, कोई धर्म हो भगवान् कहते हैं 'सब धर्मों को छोड़ मेरी शरण आ।' कोइ भी कार्य करते समय हम मन मे विचारों कि 'क्या मेरा यह कार्य' भगवान् को स्वीकार होगा ? क्या अपने कर्त्तव्य कर्म हम उसके सम्मुख रख सकेंगे ?

मन कभी-कभी यों सोचता है। घर में कोई बूढ़ी मा है। उसकी नतबहू उसके सामने प्याज लहसुन आदि ले आवे तो वह बूढ़ी मा कहेगी—' अरे यह क्या ले आई ? इससे तो यही

ठीक है कि कुछ न दे; मैं उपासी रह लूँगी। पर ये मत ला।'
वह जगन्माता मानो आज हज़ारो बरस से उपासी है। उसे ऐसी कर्म की मेवा देता ही कौन है कि जो उसे स्वीकार हो सके? द्रौपदी के दिए एक पत्ते मे उसे डकार आ गई। वह धन्य है जो ऐसा कह सकें कि मेरे कार्य प्रभु को रुचेंगे।

इसीलिए अंग्रेज़ कवि शेक्सपियर ने कहा है 'जो-जो तू करे वह ईश्वर के लिए हो, सत्य के लिए हो, देश के लिए हो।' शेक्सपियर ने पहिले देश नहीं कहा; उसने ईश्वर और सत्य पहिले रखा है। अंग्रेज़ अपने देश की सेवा कर रहे हैं। परन्तु भारत के शोषण पर की जाने वाली वह देश सेवा क्या ईश्वर को मजूर होगी? कभी नही।

अतएव अपने मन के विचारों और कर्मों की एक यह कसौटी रखें। हम सोचें कि अपने विचार और कर्म ईश्वर के सामने ले जाते लज्जा तो नही लगेगी। उसके सामने आपको अपमानित तो अनुभव नहीं करना पड़ेगा? ईश्वर की आकांक्षा अपनी करें। अपने कर्म में प्रभु का ही हेतु प्रकट हो। मै कोई नही हूँ। वही अखिल है। अपने अन्तर में उसी का संगीत निनादित होने दो। उसकी ही आकांक्षाएँ अपने में मूर्त होने दो। अपनी जीवन-बीन से उसीके सुर निकलने दो। उसके हाथ का मैं साधन-मात्र हूँ। दादू पिंजारा कपास धुनकता था। पींजन के तार 'तुईं-तुईं' धुन करते थे। 'तुइँ-तुइँ' में दादू पिंजारे ने भला क्या सुन लिया? वह कहता था 'तू ही, तू ही,' बस केवल तू ही है। तू ही तो है ही।